Printed by
Swami Tribhuvandas Sastri,
Shree Ramanand Printing Press
Kankaria Road
Ahmedabad-22,
and published by
Dalsukh Malvania
Director
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad 9,

FIRST EDITION
November, 1974

आचार्यश्रीजिनदेवसूरिविरचितः

हैमनाममालाशिलोञ्छः

वाचनाचार्यश्री-श्रीवल्लभगणिविनिर्मितया

'दीपिका'टीकया समेतः

संपादक
महोपाध्याय श्री विनयसागर



प्रकाशक
लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद–९

PREFACE

The L. D. Institute of Indology has great pleasure in publishing the present volume containing the Haimanāmamālāśiloñcha and the Dīpikā. The Śiloñcha is a supplement to the Haimanāmamālā of Āc. Hemacandra. It consists of 139 Sanskrit verses. It is composed by Āc. Jinadevasūri (V. S. 1450) of Laghukharataragaccha. The Dīpikā is a commentary on this Śiolñcha, written by Śrīvallabha Gaṇi (V. S. 1625) of Kharataragaccha.

Śiloñcha was included in the Abhidhāna-Saṅgraha (Collection of Sanskrit Ancient Lexicons) published by Nirnayasagara Press, Bombay, in the year 1896 A. D. It was also iucluded in the Abhidhāna-cintāmaṇikośa published by Jasavantalal G. Shah, Ahmedabad, in the year V. S. 2013 (A. D. 1957). But the text printed in these two editions was not critically edited, whereas the text printed in this volume is critically edited on the basis of three old mss.; the variants are noted in the Appendix 4. The Dīpikā on the Śiloñcha is published here for the first time. The editor has utilised three old mss. for the preparation of the critical edition of the text of Dīpikā.

The L. D. Institute of Indology is thankful to Mahopadhyaya Vinayasagraji for critically editing the texts of Śiloñcha and Dīpikā. He has written an interesting and informative introduction to this edition. Therein he has given a detailed account of the life and works of the authors of these two works. Regarding Srīvallabha he tells us that he had earned the title of vādī and that though he belonged to Kharataragaccha he wrote a mahākāvya entitled 'Vijayadevamāhātmya' whose hero is Āc. Vijayadevasūri of Tapagaccha.

Four Appendices added at the end of this volume by the learned editor enhance the value of this edition. Appendix 1 is an index of words; words found in the Dīpikā alone are marked by the sign दी०. Appendix 2 lists alphabetically the quotations occurring in the Dīpikā. Appendix 3 lists titles of the works and names of the authors mentioned in the Dīpikā. Appendix 4 records variants yielded by those three mss. of the Śiloñcha.

It is hoped that the publication of this important work will be useful to those interested in the subject of Sanskrit Lexicon.

L. D. Institute of Indology
Ahmedabad-380009.
15th Nov. 1974.

Dalsukh Malvania
Director.

आचार्यश्रीजिनदेवसूरिविरचितः

हैमनाममालाशिलोञ्छः

वाचनाचार्यश्री-श्रीवल्लभगणिविनिर्मितया

'दीपिका'टीकया समेतः

प्रस्तावना

नामकरण

कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्रसूरि ने अपने अभिधान-चिन्तामणिनाम-माला नामक नामकोष के पूरक रूपसे शेष रहे एवं नवीन प्राप्त शब्दों का संकलन कर शेष-संग्रहनाममाला नाम से स्वतन्त्र कोष की रचना की थी। फिर भी कुछ शब्द उनमें संग्रहीत नहीं हुए थे। उनका संग्रह पन्द्रहवीं शताब्दी में आचार्य जिनदेवसूरि ने किया। यह संग्रह उन्होंने 'शिलोञ्छ' (कणिशादिचुण्टनम्) अर्थात् इधर उधर बिखरे हुये धान्य–कणों के चयन के समान ही चयन कर प्रस्तुत कोष का निर्माण किया था और वह हेमचन्द्रीय अभिधान-चिन्तामणिनाममाला का पूरक होने के कारण ग्रन्थकार ने इस कोष का नाम 'हैमनाममाला शिलोञ्छ' रखा है।

आचार्य जिनदेवसूरि

जैन श्वेताम्बर परम्परा में 'खरतगच्छ' एक प्रमुख गच्छ है। इस गच्छ की एक शाखा 'लघुखरतरगच्छ' नाम से प्रसिद्ध है। लघु खरतर शाखा का प्रादुर्भाव पट्टावलियों के मतानुसार वि सं. १२८० पल्हूपुर में आचार्य जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) के समय में हुआ था। इस शाखा के प्रथम आचार्य जिनसिंहसूरि थे। इनके पट्टधर मुहम्मद तुगलक प्रति-बोधक आचार्य जिनप्रभसूरि हुये। आचार्य जिनप्रभ न केवल तीर्थोद्धारक या शासनप्रभावक ही थे अपितु न्याय, दर्शन, व्याकरण, काव्य, अलङ्कार, मन्त्रशास्त्र, जैनागम आदि विविध-विषयके ग्रन्थों के प्रणेता, सफल टीकाकार, विशाल स्तोत्र–साहित्य के निर्माता एवं विविध तीर्थकल्प जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों के रचयिता एवं अनेक भाषाओं के जानकार थे। इनका समय १३३२ से १४०० के मध्य का है। इन्ही के पट्टधर आचार्य जिनदेवसूरि थे।

'जिनदेवसूरि गीत'[1] के अनुसार इनके पिता का नाम सा. कुलधर और माता का नाम वीरिणि था। जन्म संवत् जन्म स्थान और दीक्षा संवत् आचार्यपद संवत् एवं स्थान आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। ये श्री जिनप्रभसूरि के प्रमुख शिष्यों में से थे। जिनप्रभसूरि ने स्वहस्त से ही इनको आचार्यपद प्रदान किया था। वि. सं. १३८५[2] में योगिनीपुर (दिल्ली) में आचार्य जिनप्रभसूरि जिस समय सम्राट् मुहम्मद तुगलक से मिले थे उस समय जिनदेवसूरि भी साथ थे और नगर–प्रवेश महोत्सव के समय ये हाथी पर भी बैठे थे। जिस समय आचार्य जिनप्रभसूरि ने देवगिरि की ओर प्रस्थान किया था उस समय उन्होंने १४ साधुओं के साथ जिनदेवसूरि को सम्राट् मुहम्मद तुगलक के पास दिल्ली में ही रखा था।

जिनप्रभसूरि ने स्वरचित 'कन्यानयनीयमहावीरकल्प'[3], में एक प्रसंग का उल्लेख करते हुये लिखा है:—

"इधर दिल्ली में विराजमान जिनदेवसूरि विजयकटक (शाही छावणी) में सम्राट् से मिले। सम्राट् ने बहुत सन्मान के साथ एक सराय (मुहल्ला) जैन संघ के निवास करने के

---

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह पृ. १४.

२. विविधतीर्थकल्प पृष्ठ ४५-४६

३. विविधतीर्थकल्प पृ ४६.

लिये दी। इस सराय का नाम 'सुलतान सराय' रखा गया। वहां सम्राट् ने पौषधशाला और जैन मन्दिर बनवाया एवं ४०० श्रावकों को सकुटुम्ब निवास करने का आदेश दिया। पूर्वोक्त कन्यानयनीय महावीर स्वामी की प्रतिमा को इस सराय में सम्राट् के बनवाये हुये मंदिर में विराजमान किया गया। श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं अन्यधर्मावलम्बी जन भी भक्ति-भाव से इस प्रतिमा की पूजा करने लगे।"

श्री विद्यातिलक ने कन्यानयनमहावीरकल्पपरिशेष में लिखा है कि—"किसी समय मुहम्मद तुगलक को जिनप्रभसूरि से मिलने की पुनः उत्कंठा जागृत हुई और उसने आदेश निकलवा कर दौलताबाद से आचार्य को पुनः आने के लिए निवेदन किया, जिसे जिनप्रभसूरि ने सहर्ष स्वीकार किया और देवगिरि से दिल्ली के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में आते हुये अल्लावपुर में सूरिजी के साथियों को मल्लिकों ने परेशान किया। उस समय यह वृत्तान्त जानकर जिनदेवसूरि ने सम्राट से मिलकर इस उपद्रव का निवारण करवाया था।" इससे स्पष्ट है कि सम्राट् के हृदय में जिनदेवसूरि के प्रति गौरवपूर्ण स्थान था।

जिनदेवसूरि ने स्वरचित 'कालकाचार्य कथा' में स्वयं के लिये "स्वाङ्कपर्यङ्कलालितः" विशेषण का प्रयोग किया है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये बाल्यावस्था से ही जिनप्रभसूरि के संरक्षण में रहे या लघु अवस्था में ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। सं. १३८५ में इनके नाम के साथ आचार्यपद का उल्लेख प्राप्त है ही। शिलोञ्छ का रचनाकाल जिनदेवसूरि ने १४३३ दिया है।

वर्तमान समय में जिनदेवसूरि रचित केवल दो ही कृतियां प्राप्त हैं— १. कालिकाचार्यकथा और २. हैमनाममालाशिलोञ्छ।

कालिकाचार्य कथा—इस कथा में जैन समाज में प्रसिद्ध आचार्य कालक का आख्यान दिया गया है। ९७ अनुष्टुप् श्लोकों में यह कथा है। शब्दों का चयन सरल और सुबोध है। इसकी भाषा संस्कृत है। आचार्य ने रचनासमय नहीं दिया है।

यह कथा देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत से प्रकाशित सचित्र कल्पसूत्र में प्रकाशित हो चुकी है।

हैमनाममालाशिलोञ्छ—प्रस्तुत ग्रन्थ में साहित्य में प्रयुक्त नूतन शब्दों का संकलन 'अभिधानचिन्तामणिनाममाला' के पूरक रूप में है। नाममाला के काण्डों के अनुसार यह भी छः काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड में निम्नांकित श्लोक हैः— (१) ६. (२) १४. (३) ६२. (४) ३९½. (५) १. (६) १५½. और प्रशस्ति का १। इस प्रकार समग्र श्लोक संख्या १३९ है।

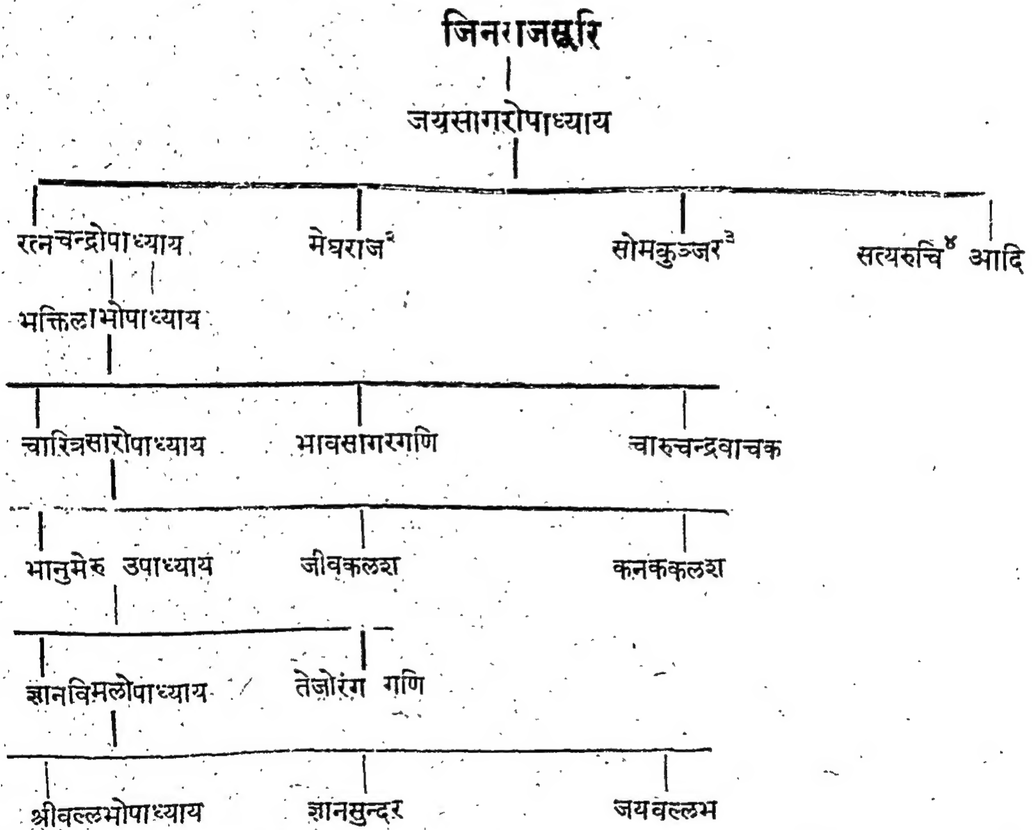
श्रीवल्लभ ने रचनाकाल से सम्बद्ध मूलपाठ 'वैक्रमेब्दे त्रिविश्वेन्द्रमिते' दिया है। इसके अनुसार त्रि ३, विश्व ३, और इन्द्र १४ होते हैं। अंको की वामगति मानकर टीकाकार ने रचना समय वि. सं. १४३३ माना है, जो युक्तियुक्त एवं उचित है। संवत् के सम्बन्ध में कुछ और भी पाठान्तर प्राप्त होते हैं: पु० और आ० संज्ञक प्रति में 'त्रिवस्विषुमिते' 'त्रिवस्विपुतिमे' पाठ प्राप्त है, इसके अनुसार वि. सं. ५८३ होता है। अ. संज्ञक प्रति और मुद्रित संस्करण के अनुसार 'त्रिवस्विन्दुमिते' से १८३ होता है। जो कि लिपिकार की अज्ञता एवं अशुद्ध पाठ के कारण भ्रामक है।

१. वही पृ. ९५,

टीकाकार श्रीवल्लभ की गुरुपरम्परा

हैमनाममालाशिलोञ्छ के टीकाकार वादी श्री श्रीवल्लभोपाध्याय खरतरगच्छीय श्री ज्ञानविमलोपाध्याय के शिष्य हैं। श्रीवल्लभ, महोपाध्याय श्री जयसागरजी की उपाध्याय परम्परा में आते हैं। जयसागरोपाध्याय की परम्परा बहुत ही उच्च कोटि के विद्वानों तथा गीतार्थों से अलंकृत रही है। यही कारण है कि श्रीवल्लभ ने अपने समस्त ग्रन्थों की प्रान्तपुष्पिकाओं में 'महोपाध्याय श्रीजयसागरसन्तानीय' एवं प्रशस्तियों में इस परम्परा का विशदता से वर्णन किया है[1]।

शिलोञ्छदीपिका, अभिधानचिन्तामणिनाममालाटीका आदि प्रशस्तियों के आधार पर इनकी गुरु-परम्परा का वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है:—



१ इनके लिए देखें 'निघण्टुशेषटीका' की पुष्पिका, शेषसंग्रहदीपिका प्रशस्ति आदि।

२ मेघराजरचित हारबन्धमय नगरकोट्टालङ्कार आदि जिनस्तोत्र (जगज्जीवनं पावनं यस्य वाक्यम्) पद्य २४ प्राप्त है।

३ सोमकुञ्जर ने जेसलमेरस्थ सम्भवजिनालय की प्रशस्ति का सं. १४९७ में निर्माण किया था और सं. १४८५ में जिनभद्रसूरि के उपदेश से लिखापित आचाराङ्गवृत्ति का सं. १५१२ में शोधन किया था।

४. विज्ञप्तित्रिवेणी के अनुसार जयसागरजी के प्रमुख शिष्यों में इनके भी नाम प्राप्त हैं—स्थिरसंयम, मतिशीलगणि, हेमकुञ्जर, समयकुञ्जर, कुलकेशरी, अजितकेशरी आदि।

टीकाकार श्रीवल्लभोपाध्याय

श्रीवल्लभरचित मौलिक एवं टीकाग्रन्थों का अवलोकन करने से इनके विषय में जो कुछ जानकारी मिलती है, वह इस प्रकार है :—

जन्मस्थान—अभिधानचिन्तामणिनाममाला की 'सारोद्धार' नामक टीका, हैमलिङ्गानुशासन विवरण की 'दुर्गपदप्रबोध' नामक टीका एवं निघण्टुशेष टीका आदि स्वप्रणीत टीका ग्रन्थों में श्रीवल्लभ ने स्थान स्थान पर पद पद पर 'इति भाषा' 'इति लोके' 'इति प्रसिद्धे' शब्द से शब्दों के पर्याय देते हुये, राजस्थान में रूढ प्रचलित शब्दों का व्यापक रूप से उल्लेख किया है। इन टीकाग्रन्थों में लगभग ४५०० भाषा शब्दों का उल्लेख है। इन शब्दों का मैंने स्वतन्त्र रूप से संग्रह कर लिया है जो शीघ्र ही 'राजस्थानी–संस्कृत शब्दकोश' के नाम से प्रकाशित होने वाला है।

उदाहरणार्थ कुछ शब्द देखिये :—

तावडा, कलाइणि, तेडण, ऊकरडओ, ओलम्भओ, ओलखाण–पिछाण, कवा, खेजड़ी, सांगरी, चलू, लूगड़ा आदि। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्रीवल्लभ का जन्म एवं बाल्यकाल राजस्थान प्रान्त में व्यतीत हुआ हैं। साथ ही रूढ शब्दों के प्रयोग से यह भी अधिक संभव है कि राजस्थान में भी जोधपुर राज्य इनका जन्मस्थान रहा हो।

यहां यह प्रश्न अवश्य ही विचारणीय हो सकता है कि श्रीवल्लभ जैन मुनि थे। मुनि होने के कारण विचरण करते रहते थे। फिर भी इनके जीवन का अधिकांश भाग राजस्थान प्रदेश में ही व्यतीत हुआ है। अतः निरन्तर जन-सम्पर्क के कारण इनकी भाषा में राजस्थानी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ हो। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि कतिपय राजस्थानी शब्दों के प्रयोगकी बात न होकर ४५०० शब्दों का केवल राजस्थानी प्रयोग, उसमें भी आंचलिक शब्दावली का व्यवहार इन्होंने किया है, जो बाल्यपन के संस्कार के विना भाषा में नहीं आ सकते। अतः मेरे विचारानुसार जब तक कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण प्राप्त न हो, तब तक भाषा के आधार पर इन्हें राजस्थानी मानने में किसी को संदेह नहीं होना चाहिये।

जन्म-संवत—दीक्षा समय के प्रसंग में मैंने, अनुमानतः सं. १६३०–४०. के मध्य में इनका दीक्षाकाल माना है। अतः दीक्षा के पूर्व इनकी अवस्था १०–१२ वर्ष की भी मानी जाय तो इनका जन्म समय सं. १६२०–१६२५ के मध्य में माना जा सकता है।

दीक्षा-सम्वत्—खरतरगच्छालङ्कार आचार्यप्रवर श्रीजिनमाणिक्यसूरि के पट्टधर, सम्राट् अकबर द्वारा प्रदत्त युगप्रधान विरुदधारक आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने अपने ५८ वर्ष के विशद गणनायक आचार्य काल में ४४ नन्दिओं (नामान्तपदों) की स्थापना की थी। इसमें २६ वीं संख्या की नन्दी 'वल्लभ' नाम की है। इन ४४ नन्दिओं में से १६ वीं नन्दी 'सिंह' की स्थापना सं. १६२३ में हो चुकी थी। अतः अनुमानतः 'वल्लभ' नन्दी की स्थापना सं. १६३० एवं १६४० के मध्यकाल में हुई होगी। इस अनुमान का मुख्य कारण एक यह भी है श्रीवल्लभ ने सं. १६५४ में हैमनाममालाशिलोञ्छ और शेषसंग्रहनाममाला पर टीकाओं की रचना की। इसी वर्ष इनके गुरु ज्ञानविमलजी ने भी शब्दप्रभेद टीका पूर्ण की जिसमें श्रीवल्लभ सहायक थे। किसी भी ग्रन्थ पर लेखनी चलाने

के लिये विशेषकर व्याकरण एवं कोष पर, विशेष अध्ययन और योग्यता की अपेक्षा है। अतः प्रौढ एवं पाण्डित्यपूर्ण टीका निर्माण के लिये दीक्षा के पश्चाद् १५–२० वर्ष का समय तो अवश्य ही अपेक्षित है। इस लिये यह अनुमान युक्तिसंगत ही होगा कि यु. जिनचन्द्रसूरिने सं. १६३० और १६४० के मध्य में आपको दीक्षा प्रदान कर 'श्रीवल्लभ' नाम प्रदान किया हो।

उपाध्यायपद

श्रीवल्लभ को गणिपद, वाचनाचार्य या वाचकपद और उपाध्यायपद किन किन संवतों में प्राप्त हुये, इसका कुछ भी पता नहीं है। इनके प्राप्त साहित्य में 'चतुर्दशगुणस्थान–स्वाध्याय' गाथा २३ भाषा की संभवतः प्रथम रचना है। इसमें स्वयं के लिये 'श्रीवल्लभ मुनिवर भणी' मुनि शब्द का प्रयोग किया है। इस रचना में संवतोल्लेख नहीं है। अतः कौन से संवत् तक ये मुनिपद पर रहे, निश्चय नहीं किया जा सकता।

श्री ज्ञानविमलोपाध्याय ने सं. १६५४ आषाढ शुक्ला द्वितीया को रचित शब्दप्रभेद टीका में 'विद्वच्छ्रीवल्लभाह्वस्य युक्तायुक्तविवेचिनः (२०), श्रीवल्लभ को विद्वान् और युक्तायुक्तविवेचक अवश्य कहा है किन्तु श्रीवल्लभ के साथ किसी पद का उल्लेख नहीं किया है।

श्रीवल्लभ की संवतोल्लेखवाली प्रथम प्रौढ रचना शेषसंग्रहनाममाला टीका है। इस टीका की पूर्णाहुति ज्ञानविमलीय शब्दप्रभेद की रचना के ठीक २१ दिन बाद अर्थात् १६५४ श्रावण कृष्णा अष्टमी को हुई है। इसकी रचना–प्रशस्ति में 'गुरूणामन्तिषदाणुना श्रीवल्लभेन (१८)' लिखा है। ऐसे ही इसी वर्ष की इनकी दूसरी प्रौढ रचना हैमनाममालाशिलोञ्छ टीका है। इसकी रचना तिथि सं. १६५४ चैत्र कृष्णा सप्तमी है। इसमें भी 'श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण श्रीवल्लभेन, (१९) लिखा है। अर्थात् नाम के साथ किसी पद का उल्लेख नहीं है। किन्तु दोनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पदोल्लेख न होते हुये भी, दोनों ग्रन्थों में प्रत्येक काण्ड की प्रान्तपुष्पिकाओं में 'वाचनाचार्य–श्रीवल्लभगणिविरचितायाम्' वाचनाचार्य एवं गणिपद का उल्लेख प्राप्त होता है। सं. १६५५ की लिखित एवं श्रीवल्लभ द्वारा संशोधित हैमनाममाला शिलोञ्छ की प्रति भी प्राप्त है, इसकी प्रान्तपुष्पिका में वाचनाचार्य एवं गणिपद का उल्लेख है। अतः यह मानना असंगत न होगा कि सं. १६५४ में ही या इसके १–२ वर्ष पूर्व ही इनको वाचनाचार्य एवं गणिपद प्राप्त हो गया था।

सं. १६५५ में रचित ओकेश–उपकेशपदद्वयदशार्थी में 'पण्डित श्रीवल्लभगणि' उल्लेख है। इसी प्रकार बिना संवतोल्लेखवाली दो और रचनाएँ हैं, जिनमें 'खचरानन पश्य सखे खचर' पद्य की व्याख्या में 'विद्वच्छ्रीवल्लभाह्वो, पण्डित श्रीवल्लभगणि' तथा अत्यन्त प्रौढरचना सहस्रदलकमलबद्ध अरजिनस्तव की स्वोपज्ञ टीका में 'श्रीवल्लभेन गणिना' (४) उल्लेख मिलता है। अर्थात् इन तीन कृतियों में पण्डित विद्वान् और गणि का उल्लेख तो प्राप्त है किन्तु वाचनाचार्य या वाचक का उल्लेख नहीं है।

अतः यहां यह प्रश्न स्वाभाविक है कि सं. १६५४ की रचनाओं में वाचनाचार्य का उल्लेख होने पर भी सं. १६५५ की रचना में केवल गणि का उल्लेख ही क्यों कर लेखक ने किया ? मेरी समझ में तो वाचनाचार्य होने पर भी लेखक ने स्वभाविक प्रवाह में स्वयं को गणि लिखा है। क्योंकि अनेक रचनाओं में वाचनाचार्य का उल्लेख करते हुये भी सं.

१६६९ में रचित अजितनाथ स्तुति टीका में स्वयं के लिये वाचक का उल्लेख न करके केवल 'वादिश्रीश्रीवल्लभः' एवं 'वादिश्रीवल्लभगणि' का ही प्रयोग किया है । अतः यह निश्चित है कि सं १६५४ के आसपास इनको वाचनाचार्य एवं गणिपद प्राप्त हो चुका था ।

उपरोक्त कृतियों के अतिरिक्त संवतोल्लेख वाली एवं बिना संवतोल्लेखवाली प्राप्त समग्र रचनाओं में श्रीवल्लभ ने स्वयं के लिये गणि के साथ वाचक या वाचनाचार्य पद का सर्वत्र उपयोग किया है । देखिये :—

१. मातृका श्लोकमाला (र. सं. १६५५) 'वाचकश्रीवल्लभाह्वेन' प्र. प. ३
२. हैमलिङ्गानुशासन दुर्गपदप्रबोध टीका (१६६१) श्रीश्रीवल्लभवाचकैः' प्र. प. १०
३. अभिधानचिन्तामणिनाममाला टीका (१६६७)'वाचनाचार्यो वादिश्रीवल्लभो' प्र. प. ११
'वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणि' प्रान्तपु.
४. निघण्टुशेष टीका (१६६७ से पूर्व) 'वाचनाचार्यश्रीश्रीवल्लभगणि' प्रान्त पु.
५ अजितजिनस्तुतिटीका (१६६९) 'वादि श्रीश्रीवल्लभः' मं. प. १
६. विद्वत्प्रबोधकाव्य 'वाचनाचार्यधुर्यश्रीश्रीवल्लभगणीश्वरैः' प्र. प. १.
७. 'केशाः' पद्यव्याख्या 'श्रीश्रीवल्लभवाचकः' मं. १. वाचनाचार्य श्रीवल्लभगणिभिः' पुष्पिका.
८. संघपतिरूपजी-वंशप्रशस्ति (१६७५ के आसपास) 'श्रीश्रीवल्लभवाचकः' मं. ५

उपाध्याय पद का उल्लेख हमें केवल दो ग्रन्थों में प्राप्त होता है :—

१. चतुर्दशस्वर स्थापन वादस्थल एवं २. विजयदेवमाहात्म्य । वादस्थल की रचना जिनराजसूरि के शासनकाल में होने से स्पष्ट है कि सं. १६७४ के पश्चात् की यह कृति है और विजयदेवमाहात्म्य का रचनाकाल १६८७ के पश्चात् का है । दोनों के उद्धरण निम्नांकित है :—

'श्रीवल्लभः पाठक उत्सवाय' मं. ३, श्रीवल्लभ उपाध्यायः' प्र. प. ३
चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल

'श्रीवल्लभ उपाध्यायः मं. ४, 'श्रीवल्लभः पाठक' सर्ग १९. प. २०३,
'श्रीवल्लभोपाध्यायविरचिते' प्रान्तपुष्पिकामें, विजयदेवमाहात्म्य

अतः यह निश्चित है कि श्रीवल्लभ को सं. १६७४ के पश्चात् श्रीजिनराजसूरि ने उपाध्याय पद प्रदान किया था ।

वादी

श्रीवल्लभ ने कई स्थलों पर अपने नाम के साथ वादी विशेषण का प्रयोग भी गौरव के साथ किया है । इसका सर्व प्रथम उल्लेख सं. १६६७ में रचित अभिधानचिन्तामणिनाममाला टीका की प्रशस्ति पद्य ११ में 'वाचनाचार्यो वादिश्रीवल्लभोऽभवत्' प्राप्त होता है । दूसरा उल्लेख सं. १६६९ में रचित अजितनाथ स्तुति टीका के मंगलाचरण में 'श्रीश्रीवल्लभवादिभिः' और प्रान्तपुष्पिका में 'वादिश्रीवल्लभगणिविरचिता' मिलता है । सं. १६६७ में या इसके पूर्व कहां, किसके साथ और किस विषय पर इनका विवाद–शास्त्रार्थ हुआ ? कोई संकेत नहीं मिलता है ।

सं. १६६९ में रचित अजितनाथस्तुति टीका में लिखा है कि— किसी विद्वान् के

साथ विवाद हो जाने से साधारण जिन स्तुति के वास्तविक अर्थ को त्याग कर, अजित-नाथ स्तुति के रूप में नवीनार्थद्योतक टीका की मैंने यथामति रचना की है :—

केनापि विदुषा सार्द्धं विवादादजितार्हतः ।
वर्णना वर्णिता त्यक्त्वा वास्तवार्थं यथामति ॥ ७ ॥

महाराजा सूरसिंहजी के राज्यकाल में जोधपुर में यह रचना हुई है । अतः अनुमान है कि यह विवाद जोधपुर में ही हुआ हो ।

मेरे विचारानुसार, विद्वत्प्रबोध की रचना भी ऐसे ही किसी शास्त्रार्थ के रूप में ही कवि ने की हो ! कवि स्वयं लिखता है कि:—'बलभद्रपुर में बलभद्र के राज्य में, विशिष्ट विद्व-द्गोष्ठी में मेधावियों के अभिमान का नाश करना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन हैः—

विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां सञ्जातायां प्रयोजनम् ।
एतद्ग्रन्थस्य मेधाव्यभिमानोन्मथनाय वै ॥ ३ ॥

हालांकि इस कृति में 'वादी' शब्द का प्रयोग नहीं है 'वाचनाचार्यधुर्यश्रीश्रीवल्लभग-णीश्वरैः' शब्दों का गौरव के साथ प्रयोग किया है ।

चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल तो स्पष्टतः वाद की कृति ही है । इसमें किसी कूर्चालसर-स्वतीविरुदधारक प्रतिपक्षी द्वारा स्थापित मान्यता का परिहार कर १४ स्वरों की स्थापना की गई है । यह वाद सं. १६७४ के पश्चात् कहीं पर हुआ है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १६६७ के पूर्व से लेकर १६७४ के पश्चात् तक श्री-वल्लभ ने कई विद्वद्गोष्ठियों में और कई शास्त्रार्थों में भाग लिया है-और वहाँ अपने वैदुष्य की पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठा की है । अतः अपने नाम के साथ वादी विशेषण श्रीवल्लभ के लिये सार्थक ही प्रतीत होता है ।

विशालहृदयता

उस समय १७ वीं शताब्दी में खरतरगच्छ और तपगच्छ में विधिवाद विषयक विवाद प्रबलवेग से चल रहा था और उसमें दोनों गच्छों के प्रमुख-प्रमुख व्यक्ति भाग ले रहे थे। इधर तपगच्छ की ओर से उपाध्याय धर्मसागर, नेमिसागर; लब्धिसागर आदि और खरतर-गच्छ की ओर से महोपाध्याय धनचन्द्र, महो. साधुकीर्त्ति, उ. जयसोम, उ. गुणविनय, मति-कीर्त्ति आदि लगे हुये थे । यही नहीं, किन्तु सब गच्छों के माननीय शान्तमना महर्षि महो-पाध्याय समयसुन्दर जैसे भी (किसी पूर्वाभिनिवेश या दुराग्रह के वशीभूत होकर नहीं, किन्तु वस्तुनिरूपण की दृष्टि से) अपने ग्रन्थों में उ. धर्मसागर प्ररूपित प्रश्नों को सरलतापूर्वक खण्डन कर स्वगच्छ की आचरणाओं का मण्डन कर रहे थे । इन दोनों गच्छों के विवाद ही नहीं, किन्तु विजयदेवसूरि (जिनके लिये उ. श्रीवल्लभ ने विजयदेवमाहात्म्य की रचना की) के समय में तपगच्छ में भी 'विजय' और 'सागर' के विवाद समाज में ऐसे विषैले बीजों का वपन कर रहे थे, जिससे समाज का संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय । परन्तु तत्का-लीन गच्छनायकों की चातुरी से समाज तो छिन्न-भिन्न नहीं हुआ किन्तु दो टुकडे अवश्य हो गये, जो आज भी मौजूद है[1] ।

१ देखें, विजयतिलकसूरिरास

ऐसे विक्षेप के समय में 'वादी' होते हुए भी श्रीवल्लभ का इन प्रपञ्चों में फंसना प्रतीत नहीं होता और न किसी ग्रन्थ में इनका इस विषय में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। अतः यह निश्चित है कि श्रीवल्लभ दोनों गच्छों के संघर्ष में तटस्थ ही रहे थे। किसी प्रकार के वादों में पड़कर स्वसमय को नष्ट करना नहीं चाहते थे।

जिस समय तपगच्छ के साधु खरतरगच्छ के आचार्यों की प्रशंसा करना तो दूर, उनकी कीर्त्ति का श्रवण करना भी अच्छा नहीं समझते थे और इसी प्रकार खरतरगच्छ के साधु भी तपगच्छ के प्रभाविक पुरुषों का कीर्त्तिगान करने में संकुचाते थे, उ. समयसुन्दरजी ने पार्श्वचन्द्रगच्छीय पूंजा ऋषि का गुणवर्णन मुक्तकण्ठ से किया है तथा खरतर, तपा, अंचल इन तीनों गच्छों के आचार्यों का सुललित पद्यों में 'भट्टारक तीन भए बड़भागी' कह-कर गुणगान किया है; जो तत्कालीन समग्र साहित्य में अपवाद रूप ही समझना चाहिए। ऐसे समय में तपगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य विजयदेवसूरि के चारित्रिक गुणों से प्रभावित होकर कवि श्रीवल्लभ ने १९ सर्गात्मक 'विजयदेवमाहात्म्य' नामक महाकाव्य की रचना कर अपनी माध्यस्थता, उदारता, विशालहृदयता का परिचय दिया। इसके सम्बन्ध में मुनिजिनजियजी 'विज्ञप्ति त्रिवेणी'की प्रस्तावना में लिखते हैंः—

"श्रीवल्लभोपाध्याय की कृतियों में से एक कृति बड़ी ध्यान खींचने लायक है। इसका नाम है विजयदेवमाहात्म्य। इसमें तपगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री विजयदेवसूरि का सवि-स्तर जीवन-चरित्र वर्णन किया गया है। (ध्यान में रहे कि चरित्रनायक और चरित्रलेखक दोनों समकालीन हैं और विजयदेवसूरि अपने माहात्म्य के निर्माण के समय में विद्यमान थे।) उस समय परस्पर साम्प्रदायिक विरोध इतना बढ़ा हुआ था कि एक गच्छ वाले दूसरे गच्छ के प्रतिष्ठित व्यक्ति के गुणानुवाद करना तो दूर, परन्तु श्रवण में भी मध्यस्थता नहीं दिखला सकते थे। अर्थात् तपागच्छवाले खरतरगच्छीय व्यक्ति के प्रति अपना बहुमान नहीं दिखा सकते थे और खरतरगच्छानुयायी तपगच्छ के प्रसिद्ध पुरुष की प्रशंसा करते दिल में दुःख मनाते थे। ऐसी दशा में, खरतरगच्छीय एक विद्वान् उपाध्याय के द्वारा तपागच्छ के एक आचार्य के गुणगान में बड़ा ग्रन्थ लिखा जाना अवश्य आश्चर्य उत्पन्न करता है। समाज की यह विरोधात्मक प्रकृति, श्रीवल्लभ पाठक के ध्यान से बाहर न थी। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मेरे इस—भिन्न गच्छ के आचार्य का प्रशंसा और स्तवना करने वाले इस ग्रंथ के लिखनेरूप कार्य से बहुत दुराग्रही और स्वसाम्प्रदायिक असंतुष्ट, होकर मुझपर कटाक्ष करेंगे। इस लिये उन्होंने ग्रंथ के अंत में संक्षेप में परंतु असरकारक शब्दों में लिख दिया है किः—

यदन्यगच्छप्रभवः कविः किं, मुक्त्वा स्वसूरिं तपगच्छसूरेः।
कथं चरित्रं कुरुते पवित्रं, शङ्कयमार्यैर्न कदापि कार्या॥
आत्मार्थसिद्धिः किल कस्य नेष्टा,
सा तु स्तुतेरेव महात्मनां स्यात्।
आभाणकोपि प्रथितोऽस्ति लोके,
गङ्गा हि कस्यापि न पैतृकीयम्॥

तस्मान्मया केवलमर्थसिद्ध्यै,
जिह्वापवित्रीकरणाय यद्वा ।
इति स्तुतः श्रीविजयादिदेवः,
सूरिस्समं श्रीविजयादिसिंहैः ॥

अर्थात्—अन्य (खरतर) गच्छवाला कवि अपने गच्छ के आचार्य को छोड़कर तपा-गच्छ के आचार्य का चरित्र कैसे बनाता है, यह शंका विद्वान् मनुष्यों को न लानी चाहिए। क्यों कि आत्मसिद्धि किसे अभीष्ट नहीं है ?—सभी को इष्ट है। यह आत्मसिद्धि महात्माओं की स्तुति द्वारा होती है। और महात्माओं के लिये यह कोई नियम नहीं है कि वे अमुक पंथ या समुदाय में ही उत्पन्न हुआ करते हैं और यह भी कोई प्रतिबंध नहीं है कि अमुक मतानुयायी अमुक ही महात्माओं की स्तवना करें। जैसे गंगा किसी के बापकी नहीं है—सबही उसका अमृतमय जल का पान कर सकते हैं—वैसे महात्मा भी किसी के रजिस्टर्ड नहीं किये हुए हैं। सब ही मनुष्य अपनी अपनी इच्छानुसार उनके गुणगान कर उन्नति कर सकते हैं। इसलिये मैंने खरतरगच्छानुयायी होकर भी—अपनी जिह्वा को पवित्र करने के लिये तपागच्छ के महात्मा श्री विजयदेवसूरि और उनके शिष्य विजयसिंहसूरि का यह पवित्र चरित्र लिखा है। इस विषय में किसी को उद्वेगजनक विकल्प करने की जरूरत नहीं है। वाह ! वाह ! । कैसी उदार दृष्टि और गुणानुराग ! । यदि केवल इन्हीं ३ पद्यों का स्मरण और वर्तन हमारा आधुनिक जैन-समाज करे तो थोडे ही दिनों में यह उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है। शासनदेव वह दिन शीघ्र दिखावें। (पृष्ठ ८२-८४)"

उपाध्याय श्रीवल्लभ के उदार हृदय का परिचय देनेवाली एक घटना और भी है। श्वेताम्बर जैनों में एक गच्छ है जिसका नाम है उपकेश गच्छ। श्रीवल्लभजी के समकालीन उपकेशगच्छनायक श्रीसिद्धसूरि ने चाहा कि 'उनके गच्छ के नाम की एक सुन्दर और प्रामाणिक व्युत्पत्ति हो जाय।' इस पर उन्होंने श्रीवल्लभजी से आग्रह किया। इस पर उन्होंने इस आग्रह को स्वीकार कर "ओकेश-उपकेशपदद्वयदशार्थी" की सं. १६५५ में विक्रमनगर (बीकानेर) में बडे विलक्षण ढंग से रचना की। इससे भी स्पष्ट है कि इनके हृदय में साम्प्रदायिक भावों का लवलेश भी नहीं था, अपितु वे सहृदय एवं उदारमना थे।

विहार और शिष्य-परम्परा

इनके ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका बाल्यजीवन और प्रौढावस्था का समय नागोर, बीकानेर, जोधपुर, बलभद्रपुर आदि राजस्थान के नगरों में ही व्यतीत हुआ है। किन्तु विजयदेवमाहात्म्य और संघपतिरूपजीवंशप्रशस्ति को देखते हुये यह कल्पना की जा सकती है कि कवि श्रीवल्लभ वृद्धावस्था में सं. १६७५ के आसपास 'गुर्जर' देश पहुंचे और वहीं पर संघपतिरूपजीवंशप्रशस्तिकाव्य एवं आचार्य विजयदेव के चारित्र और तप से आकृष्ट होकर विजयदेवमाहात्म्य की रचना की। इसलिये बहुत संभव है कि इनकी वृद्धावस्था वहीं पूर्ण हुई हो और सं. १६८७ के पश्चात् कुछ ही वर्षों में इनका स्वर्गवास भी उसी 'गुर्जर' प्रदेश में हुआ हो।

सबसे बड़ी आश्चर्य की वस्तु यह है कि श्रीवल्लभोपाध्याय की शिष्य-परम्परा चली हो-ऐसा प्रतीत नहीं होता और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के उल्लेख ही मिलते हैं। अथवा इनके स्वयं के शिष्य हों तो भी यह निश्चित है कि इनकी परम्परा दीर्घकाल तक नहीं चली। अन्यथा उनमें से कोई तो विद्वान् आदि होता जिनका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता।

साहित्य सर्जना

"The works of the commentator Śri Śrivallabh padhyaya prove him to be an expert in the science of lexicography... He was a master in that field." —आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजय, निघण्टुशेष प्रस्तावना पृ. ६

उपाध्याय श्रीवल्लभ न केवल प्रामाणिक टीकाकार ही है अपितु महाकवि भी हैं। जहाँ ये व्याकरण, एकार्थी तथा अनेकार्थी कोश साहित्य के उद्भट विद्वान् हैं वहाँ ये चित्रकाव्यों के आचार्य भी हैं, जहाँ इनमें संस्कृत भाषाकी प्रौढता और प्राञ्जलता दृष्टिगोचर होती है वहाँ इनमें राजस्थानी शब्दभण्डार की सुमधुर शब्दावली भी देखने में आती है। जहाँ इनके ग्रन्थों से ऐतिहासिक स्रोत प्राप्त होते है, वहाँ वैदुष्यप्राप्ति के साधन स्रोत भी प्राप्त होते हैं। इन्होंने छोटे-मोटे अनेकों ग्रन्थों की रचना कर भारती के भण्डार को अवश्य ही समृद्धिशाली बनाया होगा। वर्तमान समय में इनके द्वारा सर्जित साहित्य जो भी प्राप्त हुआ है, वह निम्नलिखित है :—

मौलिकग्रन्थ—१. विजयदेवमाहात्म्य, २. सहस्रदलकमलबद्ध अरजिनस्तव, स्वोपज्ञ टीका सह ३. विद्वत्प्रबोधकाव्य स्वोपज्ञ टीकासह, ४. संघपतिरूपजीवंशप्रशस्ति स्वोपज्ञ टीका सह, ५. मातृका श्लोकमाला, ६. चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल, ७. ओकेश-उपकेशपदद्वयदशार्थी, ८. खरतरपदनवार्थी

टीका ग्रन्थ—१. हैमनाममाला शेषसंग्रह टीका, २. हैमनाममालाशिलोञ्छ टीका, ३. हैमलिङ्गानुशासन दुर्गपदप्रबोध टीका, ४. हैमनिघण्टुशेष टीका, ५. अभिधानचिन्तामणि-नाममालासारोद्धार टीका, ६. सिद्धहैमशब्दानुशासन टीका, ७. सारस्वतप्रयोगनिर्णय. ८. विदग्धमुखण्डन टीका, ९. अजितनाथ स्तुति टीका, १० शान्तिनाथविषमार्थस्तुति टीका ११. 'केशाः कज्जालिकाशाभाः'पद्यस्य व्याख्या १२. 'खचरानन पश्य सखे खचर' पद्यस्य अर्थत्रिकम्।

भाषा की लघु कृति—१. चतुर्दश गुणस्थान स्वाध्याय, २. स्थूलिभद्र एकत्रीसो

इस प्रकार २२ छोटी-मोटी कृतियाँ अभी तक मेरी जानकारी में आई हैं। इन कृतियों में हम चाहे इनके काव्यों को देखें अथवा टीकाग्रन्थों को, प्रत्येक पृष्ठ पर श्रीवल्लभ का प्रकाण्ड-पाण्डित्य और सौजन्यपूर्ण औदार्य ही प्रस्फुटित हो रहा है।

उपर्युक्त सब रचनाओं का पूर्ण परिचय करवाना यहाँ संभव नहीं है, केवल उनका संक्षिप्त परिचय-मात्र यहां दिया जा रहा है जो मेरी समझ में, श्रीवल्लभ की प्रतिभा और निपुणता को प्रकाशित करने के लिये पर्याप्त होगा।

१. विजयदेवमाहात्म्य महाकाव्य

१७वीं शती के तपगच्छाधिपति आचार्य विजयदेवसूरि के माहात्म्य का वर्णन होने से इस महाकाव्य का नाम भी विजयदेवमाहात्म्य महाकाव्य रखा गया है । विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं उन लक्षणों से तुलना करने पर यह माहात्म्य भी महाकाव्य की कोटि में आता है । इसके नायक विजयदेवसूरि धीरोदात्त और देवत्व गुण से परिपूर्ण है । इसमें शान्तरस मुख्य है । इसका कथानक महर्षि के जीवन-चरित पर आश्रित है और तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन होने से ऐतिहासिक भी है । इसमें धर्मफल की प्रधानता है । प्रारंभ में नमस्कार और कथावस्तु का निर्देश भी है । इसमें १९ सर्ग हैं । सर्ग के श्लोकों की संख्या ३६६ पद्य हैं । इसमें कई स्थलों पर 'सागर' आदि खलों की निन्दा और महापुरुषों का गुणगान भी किया गया है[1]। प्रसङ्गोपात्त पुत्रजन्म, विवाह (दीक्षा), मुनि, स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र, सागर आदि का वर्णन भी है । स्थान-स्थान पर अनुप्रास, श्लेष, यमक, वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, विरोध, उपमा, रूपक आदि अलंकारों का अच्छा समावेश किया है । अतः यह काव्य केवल माहात्म्य ही नहीं है किन्तु लक्षणसिद्ध घटनाबहुल ऐतिहासिक महाकाव्य है ।

इसका रचनासमय अज्ञात है । महाकवि श्रीवल्लभ ने प्रशस्ति में इसका कोई उल्लेख नही किया है किन्तु इस महाकाव्य का आलोडन करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसकी रचना सं. १६८७ के पश्चात् ही कवि ने की है । इसका आधार यह है कि कवि, चरितनायक के जन्मकाल १६३४ से लेकर १६८७ तक की क्रमबद्ध घटनाओं का वर्णन सांगोपांग करता है । नायक का देहावसान १७१३ में हुआ है । कवि उनके देहावसान का तो क्या, किन्तु चरितनायक के १६७८ के बाद दक्षिण देश में पधारने और काफी समय तक इस प्रदेश में विचरण करने का उल्लेख भी नहीं करता । १६८४ में विजयदेवसूरि ने विजयसिंहसूरि को भट्टारक पद दिया[2] और १६८६ में स्वर्ण-गिरि (जालोर) में प्रतिष्ठा करवाई[3] । सं. १६८७ में मेदिनीतट[4] (मेड़तासिटी) में प्रतिष्ठा करवाई और उसके पश्चात् करवाया गंगाणो तीर्थ का जीर्णोद्धार । इसके पश्चात् काव्य में कोई जीवन की उल्लेखनीय घटना नहीं है,-किन्तु जहांगीर पर प्रभाव, रूपवर्णन, चरितवर्णन, और गुणवर्णनों में ही आगे के सर्ग पूर्ण किये गये हैं । इसमें एक और घटना का उल्लेख है, मेघजी[5] आदि मुख्य श्रावकवर्ग ने 'सागरमत' का त्याग कर, पुनः गुरु के वासक्षेप प्राप्त

१. देखें एकादश सर्गः
२. देखें, विजयदेव माहात्म्य, सर्ग ९
३. वही, सर्ग १३ पद्य १६-१७
४. वही सर्ग १३ पद्य ७२
५. वही सर्ग १४
६. वही सर्ग १९ पद्य १९७

कर बोधिलाभ उपार्जन किया । इसका भी समय अवचूरिंकार[1] उपाध्याय श्री मेघविजयजी ने सं. १६८७ दिया है । अतः यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है कि इसकी रचना १६८७ के अन्त में ही हुई है । अन्यथा १६८८ की भी कोई घटना का उल्लेख अवश्य किया जाता ।

कवि ने काव्य के प्रथम और द्वितीय सर्ग में चरितनायक का जन्म, विद्याभ्यास, वैवाहिक बन्धनों को न स्वीकार ब्रह्मचारी रहने की अत्युत्कट अभिलाषा और संयम के प्रति आकर्षण का वर्णन किया है । ३–४ सर्ग में आचार्य हीरविजयसूरि का प्रभाववर्णन और विजयसेनसूरि का जीवन–चरित है । ५–७ सर्ग में माता सहित चरितनायक की दीक्षा, शास्त्राभ्यास, विजयसेनसूरि के साथ सम्राट् अकबर से मिलाप तथा चरितनायक के गणि और आचार्यपद प्राप्ति का वर्णन किया गया है । ८वें सर्ग में कनकविजयादि शिष्यों का और ९–१० सर्गों में प्रतिष्ठा, चातुर्मास, दीक्षाप्रदान एवं विजयसिंहसूरि को स्वपट्ट पर अभिषिक्त करने का वर्णन मिलता है । ११वें सर्ग में 'सागरपक्षीय' प्रतिवादियों को पराजित करने का उल्लेख है । १२–१४ सर्गों में नवलक्षप्रासाद पार्श्वनाथ, जालोर, मेड़ता आदि प्रतिष्ठाओं का विशद वर्णन तथा गंगाणी तीर्थ के जीर्णोद्धार का प्रसंग कवि ने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है । १५वें सर्ग में तपवर्णन, १६वें में स्तम्भतीर्थ चातुर्मास–वर्णन तथा १७–१८ में सम्राट् जहाँगीर पर प्रभाव और महातपा विरूद–प्राप्ति एवं सागर–पराजय का वर्णन है । सर्ग १९वें में नायक के औदार्यादि गुणों का व्याख्यान है ।

यह कवि श्रीवल्लभ की अन्तिम रचना प्रतीत होती है । इसके पश्चात् की अभी तक कोई भी कृति प्राप्त नहीं हुई है । इस काव्य की समसामयिक प्रसिद्ध साहित्यकार उपाध्याय श्री मेघविजयजी प्रणीत अवचूरि प्राप्त है । इस काव्य की दो सुन्दर प्रतियाँ उ. श्री जयचन्द्रजी भंडार (राज. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,) बीकानेर एवं श्रीजिनहरिसागरसूरि ज्ञान-भण्डार लोहावट में प्राप्त है । अवचूरि सहित यह काव्य मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित होकर जैन साहित्य संशोधक समिति अहमदाबाद से सन् १९२८ में प्रकाशित हो चुका है ।

२. अरजिनस्तव स्वोपज्ञ टीका सह

भारतीय वाङ्मय में यह स्तवात्मक लघुकाव्य अद्वितीय कृति के रूप में माना जा सकता है । क्यों कि चित्रकाव्यों में अष्टदल षोडशदल शतदलात्मक कृतियाँ तो प्राप्त होती हैं किन्तु सहस्रदलात्मक प्राप्त नहीं होती हैं । यह एक सहस्रदलकमलगर्भित चित्रकाव्य है । जिसमें १००० रकारों का प्रयोग किया गया है । मध्यदल (गर्भ) में रकार को रखा है और प्रत्येक दल (पांखड़ी) में दो अक्षरों का निवेश किया है । प्रत्येक पाँखडी के द्व्यक्षरों का मध्य में स्थित रकार से संबंध है । अर्थात् प्रत्येक पांखडी का सीधा सम्बन्ध मध्यदल के रकार से है । देखिये :—

असुरनिर्जरबन्धुरशेखर–प्रचुरभव्यरजोत्तिर पञ्जिरम् ।
क्रमरजं शिरसा सरसं वरं जिन रमेश्वर मेदुर शङ्कर ॥१॥

---

१. वही, ... १६८७ वर्षे यन्मतं कल्पितं तत्सागरीयं मतं त्यक्त्वा सा० मेघाद्याः बहवः श्रावकाः ... ... पृष्ठ १२६

इस पद्य में ४८ अक्षर हैं। जिनमें १६ रकारों का प्रयोग हैं। अर्थात् प्रत्येक दो अक्षर के बाद रकार का प्रयोग है।

चित्रकाव्य की रचना में छन्दःशास्त्र, व्याकरण, निर्वचन तथा कोष आदि पर पूर्ण आधिपत्य होना आवश्यक है। जो इस कृति में स्पष्टरूप से लक्षित होता है। विचारवैदग्ध्य, रचनाकौशल तथा उक्तिवैचित्र्य की दृष्टि से यह काव्य एक सर्वोत्कृष्ट काव्य है।

इस काव्य में अठारहवें जैन तीर्थंकर अरनाथ भगवान् की स्तुति की गई है। रकार गर्भात्मक ५४ पद्य हैं और ५५ वाँ पद्य उपसंहारात्मक प्रशस्तिरूप है।

इस स्तोत्र काव्य पर स्वयं श्रीवल्लभरचित स्वोपज्ञ टीका प्राप्त है। यदि कवि स्वयं टीका की रचना न करता तो इसकी मार्मिकता समझने में काफी असुविधायें रहती।

यह काव्य और टीका श्रीवल्लभ के प्रौढावस्था की रचना है; अतः इस काव्य की भाषा भी बहुत ही प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण है। इस स्तोत्र में कवि को अनिष्पन्न और अप्रचलितशब्दों को रकारगर्भित करने के लिये जिस योजना–कौशल और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह इसमें पूर्णरूपेण विद्यमान है। जहां १००० रकार प्रधान काव्य की रचना करना हो, वहाँ उस काव्य में प्रायः अधिक शब्द तो अप्रसिद्ध ही प्रयुक्त होते हैं। उन्हें सिद्ध करने के लिये उणादि सूत्र, और अनेकार्थी तथा एकाक्षरी नाममालाओं का आश्रय लेना हो पड़ता है। टीकाकार श्रीवल्लभ ने भी इसमें हैमव्याकरण, उणादिसूत्र, धातुपारायण, पाणिनीयादि व्याकरण, कविकल्पद्रुम, अनेकार्थनाममाला, सौभरि, सुधाकलश, विश्वशंभु, ध्वनिमञ्जरी आदि एकाक्षरी नाममालाओं के आधार पर ही शब्दों की निष्पत्ति कर अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ अकडारशब्द की व्याख्या द्रष्टव्य है:—

हे अकडार ! न कडारः–न विषमदन्तो यः सोऽकडारः, 'कडारः पिङ्गलः विषमदशनश्च' [सि. हे. उ. सू. ४०५] इति उणादिवचनात् तत्सम्बोधनं हे अकडार !–हे सुदन् ! हे श्री अरनाथजिन !

[पद्य ५३]

श्रीवल्लभ ने इस काव्य में और टीका में रचना–समय का निर्देश नहीं किया है, फिर भी 'श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधानसूरिष्वधीशेषु,' [प्र. प. र] श्रीजिनचन्द्रसूरि के राज्य में होने से स्पष्ट है कि १६७० के पूर्व की यह रचना है, क्योंकि जिनचन्द्रसूरि का स्वर्गवास १६७० में हो चुका था। और स्वयं के लिये गणिपद का ही प्रयोग होने से स्पष्ट है कि १६५५ से १६७० के मध्य में श्रीवल्लभ ने टीका सहित इसकी रचना की है।

इस काव्य को एकमात्र प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में प्राप्त है। मेरे द्वारा सम्पादित होकर यह काव्य टोका सहित सन् १९५३ में 'अरजिनस्तव' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

३ विद्वत्प्रबोधकाव्य स्वोपज्ञ टीका सह

श्रीवल्लभ ने विद्वत्प्रबोध की रचना बलभद्रपुर (संभव है उसे ही आजकल बालोतरा कहते हैं जो जोधपुर प्रदेश में पचपदरा के पास है) में बलभद्र नामक शासक की विशिष्ट

विद्वत्सभा (गोष्ठी) में मेधावियों के अभिमान का मन्थन करने के लिये और विद्वानों की वैदुष्यवृद्धि के लिये रचना की है' । लेखक ने स्वयं के लिये 'वाचनाचार्यधुर्यश्री—श्रीवल्लभगणीश्वरैः' विशेषणों का प्रयोग किया है । लेखक ने प्रशस्ति में रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है । फिर भी अत्यन्त प्रौढ और क्लिष्टतम रचना होने के कारण इसका निर्माण समय १६६०–से १६६६ के मध्य का माना जा सकता है ।

इस अनुमान का आधार यह है कि श्रीवल्लभ ने अभिधानचिन्तामणि नाममाला की टीका में (र. सं. १६६७) स्वयं के लिये वादी शब्द का प्रयोग किया है, जो इस टीका रचना १६६७ के पूर्व किसी वाद प्रसंग की ओर संकेत करता है । 'विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां मेधाव्यभिमानोन्मथनाय' शब्दों से कल्पना की जा सकती है कि यह विशिष्ट विद्वद्-गोष्ठी शास्त्रार्थ की ही थी और विजयश्री प्राप्त करने के पश्चात् श्रीवल्लभने अपनी परवर्ती कृतियों में अपने लिये वादी का प्रयोग किया हो । फिर भी निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस पंक्ति के अतिरिक्त विद्वत्–प्रबोध में कहीं भी वाद का संकेत प्राप्त नहीं है ।

कवि सौभरिप्रणीत द्व्यक्षरकाण्ड में वर्णित क्णा से लेकर क्ष्विपर्यन्त संयुक्तवर्णों के माध्यम से वस्तुवर्णना की गई है । इसमें तीन परिच्छेद हैं । प्रथम परिच्छेद के ६० पद्यों में चतुःचरणधारी गज, अश्व, वृषभ, सिंह, उष्ट्र आदि का वर्णन है । द्वितीय परिच्छेद के ६० पद्यों में द्विपदधारी शुक, तित्तिरि, हंस, चक, चक्रवाक, सारस, टिट्टिभ, मयूर, चाष, खञ्जरीट आदि पक्षियों का वर्णन है । तृतीय परिच्छेद के २१ पद्यों में साधु, पण्डित और वीरजनों का वर्णन है । अन्तमें प्रशस्ति के ६ पद्य हैं । विशेषतः प्रत्येक पद्य में राजा को सम्बोधन करके प्रासंगिक वर्णन लिखा गया है ।

इस काव्य पर स्वयं श्रीवल्लभ की ही स्वोपज्ञ टीका है । द्वितीय परिच्छेद के १९ पद्य से तो टीका न होकर टिप्पण मात्र ही प्राप्त है ।

इस काव्य की परिचयात्मक महत्ता दिखाते हुये पद्मश्री मुनि जिनविजयजी ने 'एकाक्षर नामकोषसंग्रह' के संचालकीय वक्तव्य (पृ. १०) में लिखा हैः—

"यह एक कुतूहल–प्रदर्शक काव्याभ्यासी पद्यमय कृति है । इसकी रचना एक जैन विद्वान् श्रीवल्लभगणि ने की है । यह एक केवल शब्दपाण्डित्य–प्रदर्शक अनोखी रचना है । रचनाकार ने शब्द–वैलक्षण्य की चित्रार्थता प्रकट करने के उद्देश्य से इस विनोदात्मक पद्यरचना का गुम्फन किया है । प्रस्तुत संग्रह में सौभरिकृत जो 'एकाक्षर नामाला' मुद्रित हुई है उसके द्व्यक्षरकाण्ड में क्ण, क्ष्ण, क्णु, क्णौ आदि अनेक ऐसे संयुक्ताक्षर वाले एकस्वरीय शब्दों का संग्रह किया है जो अन्य संग्रहों में खास करके नहीं मिलते । इनमें अनेकानेक ऐसे संयुक्ताक्षर–युक्त एकस्वरीय शब्द हैं जिनका उच्चारण भी कठिन और विलक्षण प्रतीत होता है । कुछ की ध्वनि में तो ह्रा, ह्रीं, श्रा, श्रीं, म्रा, म्री आदि मन्त्राक्षरों जैसा आभास होता है, परन्तु कोषकार ने इनको मन्त्राक्षरों के बीज रूप में नहीं लिया है, विचित्र शब्दध्वनि वाले शब्दों के रूप में संकलित किया है । ग्रन्थों में ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं–सा उपलब्ध

होता है । तथापि कोषकार के इन शब्दों का अपने कोश में संकलन करने का कोई शास्त्राधार अवश्य रहा होगा और इसीलिये उसने इन्हीं शब्दों को अपनी रचना में विशेष रूप से संग्रहीत किया है । सौभरि- कवि--संकलित इन विचित्र शब्दों का आधार लेकर उक्त श्रीवल्लभ गणि ने संग्रहान्तर्गत अन्तिमकृति 'विद्वत्प्रबोध' का गुम्फन किया है। इसमें उन्होंने सौभरि के संकलित व्रवण, व्रवाणा आदि बहुत से विचित्र शब्दों का सार्थक उपयोग कर दिखाने की चेष्टा है । यद्यपि है यह केवल कुतूहल--प्रदर्शक रचना, तथापि संस्कृत भाषा के शब्द सामर्थ्य का इससे बोध होने जैसा है । यह रचना अर्थक्लिष्ट एवं शुष्क-पद्य-प्रबन्ध रूप है, इसलिये रचयिता ने स्वयं इसके क्लिष्ट शब्दों का अर्थ बोध कराने के लिये संक्षिप्त टिप्पण भी साथ में लगा दिये हैं । ”

इसी 'एकाक्षरनामकोष संग्रह' पुस्तक की भूमिका लिखते हुये जैन पण्डित पं. लालचन्द्र भगवान् गान्धी ने (पृ. २३) पर लिखा है:—

“यह एक अपूर्व विशिष्ट विद्वद्गम्य, अद्भुत संस्कृत काव्य है। इस एकाक्षरीकोशसंग्रह में इसका सुसम्बद्ध आवश्यक स्थान है । इस संग्रह में चतुर्थ क्रमाङ्क में सौभरिकृत द्वयक्षरनाममाला प्रकाशित हुई है, उसमें प्रदर्शित विविध अर्थवाले संयुक्तवर्णों को प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक चरण में प्रयुक्त कर इस चमत्कृतिकर रसिक काव्य की रचना कवि ने की है। संस्कृत साहित्य में यह अद्वितीय कहा जाय, ऐसा काव्य है। शायद ही इस पद्धति का अन्य काव्य विद्वानोंने देखा होगा ।”

रसास्वादन के लिये हंसवर्णन में व्र का उपयोग देखिये:—

व्र–षोडशार्चिः स्तवनीय ! सन्मते !
    व्रयुक् ! चतस्रः ककुभो विलोकयन् ।
व्रभा ! वकस्त्रस्त ऋधग् व्रवीत्यरं,
    व्रचोरभीतिं नृपते ! सुखच्छिदम् ॥ २७ ॥ द्वि. प.

इस काव्य की एक मात्र प्रति १७ वीं शताब्दी की लिखित श्री अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में उपलब्ध है । पहिले यह काव्य जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार, सूरत से 'महावीर स्तोत्र' के साथ प्रकाशित हुआ था और पुनः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से 'एकाक्षरनामशेषसंग्रह' में प्रकाशित हुआ है ।

४ सङ्घपतिरूपजी–वंश–प्रशस्ति, स्वोपज्ञ टिप्पणीसह

यह एक वंश–प्रशस्त्यात्मक ऐतिहासिक लघुकाव्य है । इस काव्य की एकमात्र प्रति राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, क्रमांक १९२५० में प्राप्त है । प्रति अपूर्ण होने से इस काव्य का नाम कवि ने क्या रखा है, निर्णय नहीं कर सकते । काव्यके प्रारम्भ में कवि 'श्रीसंघाधिपरूपजीर्विजयताम्' (पद्य ३) तथा 'भुवि श्रावकाधीश्वरो रूपजी सः' (पद्य ४) का उल्लेख कर, पद्य पांचवें में रूपजी के पूर्वजों का वर्णन करने का संकेत करता है । इससे स्पष्ट है कि कवि श्रीवल्लभ संघपति रूपजी की प्रशंसा में यह प्रशस्ति काव्य लिखना चाहता है, परन्तु काव्य के प्राप्तांश में केवल रूपजी के पिता संघपति सोमजी एवं चाचा संघपति शिवाजी के कतिपय सुकृत कार्यों का ही वर्णन प्राप्त है । रूपजी का जन्म और विशिष्ट

कृत्यों का उल्लेख भी इसमें नहीं आ पाया है। ऐसी अवस्था में मैंने इसका नाम 'संघपति रूपजी वंश प्रशस्ति' रखना ही समुचित समझा है।

संघपति सोमजी ने सिद्धाचल तीर्थ पर खरतरवसही (चौमुखजी की टूंक) का निर्माण कार्य प्रारंभ करवाया था, किन्तु दुर्भाग्यवश मन्दिर की प्रतिष्ठा कराने के पूर्व ही संघपति सोमजी का स्वर्गवास हो गया था ऐसी अवस्था में सोमजी के पुत्र संघपति रूपजी ने सं. १६७५ में खरतरगणनायक श्रीजिनराजसूरि के करकमलों से इस खरतरवसही की प्रतिष्ठा का कार्य बड़े महोत्सव के साथ सम्पन्न करवाया। दूसरी बात, खरतरगच्छीय पट्टावलियों के अनुसार, इस प्रतिष्ठा महोत्सव के अतिरिक्त संघपति रूपजी के अन्य विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण कार्यों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। अतः इस काव्य की रचना का समय प्रतिष्ठा-महोत्सव का समय सं. १६७५ के पश्चात् का ही माना जा सकता है।

काव्य में वंशावली के अतिरिक्त जिन जिन ऐतिहासिक कार्यों का इसमें उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं:—

प्राग्वाटवंशीय श्रेष्ठि देवराज अहमदाबाद का निवासी था। इसने सं. १४८७ में माघ शुक्ला ५ को मुनिसुव्रतस्वामी के बिम्ब को प्रतिष्ठा खरतरगणाधीश श्रीजिनभद्रसूरि के करकमलों से करवाई थी।

सं. योगी की प्रथम पत्नी जसमादे ने अहमदाबाद के तलीयापाडे में सुमतिनाथ का नवीन मन्दिर बनवाया था।

सं. योगी की दूसरी पत्नी नानी काकी ने जैनशास्त्रों को प्रतिलिपियां करवाकर, स्वयं के नाम से अहमदाबाद में ज्ञानभण्डार स्थापित किया था।

सं. सोमजी ने सं. १६४४ में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि की अध्यक्षतामें शत्रुञ्जयतीर्थ यात्रा का विशालतम संघ निकाला था।

सं. सोमजी ने सं. १६४८ में हलारास्थान के बन्दियों को द्रव्य देकर कैदखाने से छुड़वाया था।

सं. सोमजी ने अहमदाबाद के सामलपाडे में सांवला पार्श्वनाथ चैत्य का नवीन निर्माण करवाया।

सं. सोमजी ने सूत्रधार धना की पोल में नीचे भूमितल पर आदिनाथ भगवान् का और ऊपर चतुर्मुख (चौमुखा) शान्तिनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया और सं. १६५३ में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि से इस मन्दिर की बडे महोत्सव के साथ प्रतिष्ठा करवाई थी।

सं. सोमजीने इस प्रकार आठ नये मन्दिरों का निर्माण करवाया और सिद्धान्त-टीका आदि सर्वशास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करवाकर अहमदाबाद में ज्ञानभण्डार स्थापित किया एवं खरतरगच्छ की सर्वत्र उन्नति की।

प्राप्त अपूर्ण प्रति स्वोपज्ञ टिप्पणी के साथ १४० पद्य ही प्राप्त है। प्रसादगुणयुक्त रचना में क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी श्रीवल्लभ बड़ी सरलता के साथ करता है। उदाहरण के लिये सं. शिवाजी के वर्णन पद्य द्रष्टव्य हैं

"शर्वत्ववश्यं शिववान् स शश्वच्छिवोऽशिवान्याऽऽशु विशां शिवोव (?)।
यच्छ्रेयसो विश्वसितीह विश्वं, विश्वं यशो यस्य हि शंसतीति ॥६७॥
दोदोष्टि दुष्टेषु कदापि नो यस्तोतोष्टि शिष्टेषु जनेषु नित्यम् ।
शेश्लेष्टयभीष्टान् विदुषोऽनगारान्, रोरोष्टि ना रुष्टजने शिवोऽव्यात् ॥६८॥"

यह प्रशस्ति मेरे द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित हो चुकी है।

५. मातृकाश्लोकमाला

इस श्लोकमाला की रचना वि. सं. १६५५ चैत्र मास में बीकानेर में हुई है[1]। इसमें दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में २७ पद्य है, और दूसरे परिच्छेद में २६ पद्य हैं। तथा अन्त में रचना प्रशस्ति में ६ पद्य हैं। प्रथम परिच्छेद में अ से झ तक २५ वर्णों में आदिनाथ से महावीरस्वामी तक के चौवीसों तीर्थङ्करों की स्तवात्मक वर्णना है और द्वितीय परिच्छेद में अ से लेकर क्ष तक २६ वर्णों में विष्णु, महेश, ब्रह्मा, कार्तिकेय, गणेश, सूर्य, चन्द्र, कुबेर, इन्द्र, शेष, मुनिपति, यम, राम, लक्ष्मण, वन, समुद्र आदि भिन्न–भिन्न पदार्थों की वर्णना है।

श्रीवल्लभ ने कुल ५१ वर्णों की वर्णमाला स्वीकार की है, स्वर १६ और व्यञ्जन ३५। स्वरों में—अ. आ. इ. ई. उ. ऊ. ऋ. ॠ. ऌ. ॡ. ए. ऐ. ओ. औ. अं. अः, तथा व्यञ्जनों में—क. ख. ग. घ. ङ., च. छ. ज. झ. ञ, ट. ठ. ड. ढ. ण, त. थ. द. ध. न, प. फ. ब. भ. म, य. र. ल व, श. ष. स. ह. ळ और क्ष का समावेश किया है।

वर्णमाला की प्रसिद्धि मातृका के नाम से प्रसिद्ध ही है। मातृकाक्षरों से सम्बन्धित रचना होने के कारण इसका नाम मातृकाश्लोकमाला रखा गया है। प्रत्येक मातृकाक्षर, प्रत्येक-श्लोक के प्रत्येक चरण (पाद) के प्रारम्भ में गुम्फित किया गया है। अर्थात् प्रत्येक में प्रत्येक वर्णमाला का ४ बार प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिये ऌवर्ण का प्रयोग देखिये:—

ऌतकनतजनानां मङ्गलानि प्रदेया,
ऌफिडकपटहारी सार्व चन्द्रप्रभ त्वम् ।
ऌतनययतिराज्या गीतविख्यातकीर्ति-
ऌरिव विशदतेजाः केवलज्ञानभास्वान् ॥११॥

आशुता से काव्यकलाभ्यासी को प्रवीणता प्राप्त हो, यह इस रचना का उद्देश्य है।

श्रीवल्लभ की प्रारम्भिक रचना होने पर भी इस कृति में प्रौढता, और काव्यगरिमा सर्वत्र लक्षित होती है। ५९ पद्यों की रचना में श्रीवल्लभ ने शार्दूलविक्रीडित, अनुष्टुप्, उपजाति, मालिनी, द्रुतविलम्बित, दोधक, स्वागता, हरिणप्लुता, वसन्ततिलका, हरिणी, इन्द्रवज्रा, आर्या, आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है।

इस श्लोकमाला की एकमात्र प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में मुनि श्री पुण्यविजयजी संग्रह में ग्रन्थाङ्क २८८८ पर अंकित है।

---

१. श्रीमद्विक्रमनगरे प्रवरे द्रव्याढ्यसभ्यजनवृन्दैः ।
इषुशरषोडशसंख्ये वर्षे मासे च चैत्राख्ये ॥१॥ प्रशस्ति.

६. चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल

इस वादस्थल में सारस्वतव्याकरण एवं पाणिनीयादि प्रमुख–प्रमुख व्याकरणों के आधार से चौदह स्वरों की स्थापना की गई है। किसी 'कूर्चालसरस्वतीविरुदं मन्यमान' प्रतिवादीने अनुभूतिस्वरूपाचार्यकृत सारस्वतव्याकरण के 'अ इ उ ऋ ऌ समानाः' और 'ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षराणि' सूत्रों के अनुसार स्वर नव ही हैं, स्थापना की। उसे श्रीवल्लभ ने पञ्च-विकल्पों की स्थापना कर, सारस्वत, पाणिनीयव्याकरण, कालाप, कातन्त्र, सिद्धहेमशब्दानुशासन, सिद्धान्तचन्द्रिका, पाणिनीयशिक्षा, आदि व्याकरण और अमरकोष, अनेकार्थसंग्रह, विश्वप्रकाश, हलायुध, वर्णनिघण्टु आदि कोष तथा नरपतिजयचर्यादि ज्योतिष् ग्रन्थों का आधार ले कर, सारस्वत व्याकरण की दृष्टि से ही ऋ और ऌ के दीर्घ का अभाव मानते हुए १४ स्वरों की स्थापना कर, प्रतिवादी के मत को निरस्त किया है। इसीलिये श्रीवल्लभ ने इस कृति का नाम भी चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल रखा प्रतीत होता है। जैसा कि इसकी अवतरणिका से स्पष्ट है:—

> सन्ति स्वराः के कति च प्रतीताः, सारस्वतव्याकरणोक्तयुक्त्या।
> समस्तशास्त्रार्थविचारवेत्ता, कश्चित् विपश्चित् परिपृच्छतीति ॥२॥
> पुरातनव्याकरणाद्यनेकग्रन्थानुसारेण सदादरेण।
> तदुत्तरं स्पष्टतया करोति, श्रीवल्लभः पाठक उत्सवाय ॥३॥

यह वाद किस प्रतिवादी के साथ हुआ? कहाँ पर हुआ? किसकी सभा में या अध्यक्षता में हुआ? इस कृति से ज्ञात नहीं होता।

यह रचना गच्छनायक श्रीजिनराजसूरि (श्रीजिनराजसूरीन्द्रे धर्मराज्यं विधातरि' प्र.प. १) के धर्मराज्य में हुई है और इसमें कवि श्रीवल्लभ ने उपाध्यायपद का प्रयोग किया है। श्रीजिनराजसूरि को आचार्यपद सं. १६७४ में प्राप्त हुआ था। अतः इसका रचनाकाल १६७४ के पश्चात् का ही है।

इसकी प्राचीन प्रति उपाध्याय श्री जयचन्द्रजीसंग्रह, शाखा कार्यालय राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान बीकानेर में उपलब्ध है।

७ ओकेशोपकेशपदद्वयदशार्थी

लेखक ने इस कृति में अनेकार्थी दृष्टि से ओकेश और उपकेश पद के पांच–पांच अर्थ निरूपित किये हैं। इस कृति की रचना उपकेशगच्छीय आचार्य श्रीसिद्धसूरिके आग्रह से सं. १६५५ में बीकानेर में हुई है। इसकी अनेकों प्रतियां बीकानेर, जयपुर, कोटा आदि भण्डारों में प्राप्त हैं।

८ खरतरपदनवार्थी

ओकेशोपकेशपदद्वयदशार्थी के समान ही इस कृति में 'खरतर' पद के लेखक ने नव अर्थ किये हैं। इसमें लेखक का नाम प्राप्त नहीं है। शैली की दृष्टि से इसे श्रीवल्लभ की कृति मान सकते हैं। यह कृति ओकेशोपकेशपदद्वयदशार्थी के साथ ही लिखी हुई प्राप्त होती है।

टीका ग्रन्थ—

१. शेषसंग्रहनाममाला दीपिका

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रणीत शेषसंग्रह नाममाला पर श्रीवल्लभ ने 'शैवल्लभी' नामक दीपिका की रचना वि. सं. १६५४ भाद्रपद कृष्ण ८ को, महाराजा रायसिंहजी के राज्यकाल में बीकानेर में की है। संवतोल्लेखवाली रचनाओं में श्रीवल्लभ की यह सर्वप्रथम रचना है।

प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्वचन और शब्दों के प्रयोग सिद्धहेमशब्दानुशासन, उणादिसूत्र, धातुपारायण, विश्वप्रकाश, शाश्वत, वैजयन्ती, माला, इन्दु, वनमाला, अमर, वाचस्पति, भविष्योत्तरपुराण, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण, मत्स्यपुराण, सङ्गीतरत्नावली आदि ४६ ग्रन्थों के उद्धरण देते हुये दीपिकाकार ने सफलता के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। दीपिका में २० शब्दों के राजस्थानी रूप भी प्राप्त हैं। ग्रन्थपरिमाण १९०० श्लोक है। दीपिका प्रकाशन योग्य है।

इसकी प्रतियाँ विनयसागर संग्रह कोटा क्रमाङ्क ७७७ और महिमाभक्तिज्ञानभण्डार बीकानेर, ग्रन्थाङ्क १६३५ में प्राप्त हैं। जिनरत्नकोष के अनुसार इसकी एक प्रति विमलगच्छ उपाश्रय, अहमदाबाद में डाबडा नं. ४६ ग्रन्थाङ्क ३५ पर प्राप्त है।

२. हैमनाममालाशिलोञ्छदीपिका

प्रस्तुत दीपिका का परिचय आगे द्रष्टव्य है।

३. हैमलिङ्गानुशासनदुर्गपदप्रबोध टीका

श्रीहेमचन्द्राचार्यप्रणीत लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण पर 'दुर्गपदप्रबोध' नामक टीका की रचना श्रीवल्लभने आचार्य जिनचन्द्रसूरि एवं उनके पट्टधर श्रीजिनसिंहसूरि के धर्मराज्य में विचरण करते हुये वि. सं. १६६१ कार्त्तिक शुक्ला सप्तमी[2] को जोधपुर में नृपति सूरसिंह के विजयराज्य में ९० से अधिक ग्रन्थों के उद्धरण देते हुये २००० ग्रन्थ परिमाण में की।

वृत्ति की रचना मूल लिङ्गानुशासन पर नहीं की गई है! इसमें 'विद्यते या शुभा वृत्तिस्तस्य दुर्गार्थबोधदः' [प्र. प. १०] से स्पष्ट है कि आचार्य हैमचन्द्र का ही जो लिङ्गानुशासन पर स्वोपज्ञ विवरण है, उसमें जिन जिन स्थानों में दौर्गम्य या काठिन्य है उन ही स्थलों पर इसमें विवेचन किया गया है। इसलिये इस व्याख्या का नाम श्रीवल्लभने 'दुर्गपदप्रबोध' रखा है।

---

१ वर्षे शतानन्दमुखेन्द्रियेशपुत्राननाब्जप्रमिते [१६५४] वरिष्ठे।
अष्टम्यहे मासि नभस्यकृष्णे श्रेष्ठे पुरे विक्रमनामधेये ॥२१॥ शेषसंग्रहदीपिकाप्रशस्ति

२ श्रीमद्योधपुरे द्रङ्गे सूरसिंहमहीपतौ।

× × ×

भूमिषड्रसतुङ्गीशसंख्ये १६६१ वर्षे सुखाधिके।
मासि कार्त्तिके कान्ते सुदिने सप्तमीदिने ॥५–६॥ प्रशस्तिः

श्रीवल्लभने विवेच्य शब्दों का विवेचन और लिङ्गनिर्वचन, विशदता एवं प्रामाणिकता के साथ किया है ।

संस्कृत शब्दों का व्यवहार देश्य शब्दों में किस प्रकार होता है इसको दिखलाने के लिये श्रीवल्लभ ने प्राय: 'इति भाषा' 'लौकिके' कहकर १५०० शब्दों के लगभग राजस्थानी शब्द इस टीका में दिये हैं। यह टीका 'अमो सोम जैनग्रन्थमाला' बम्बई द्वारा सन् १९४० में प्रकाशित हो चुकी है ।

४. हैमनिघण्टुशेषटीका

यह टीका आगमप्रभाकर मुनिराज श्री पुण्यविजयजी द्वारा सुसम्पादित होकर लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद से सन् १९६८ में प्रकाशित हो चुकी है ।

श्रीवल्लभ ने अपनी अभिधानचिन्तामणि नाममाला की सारोद्धार टीका (र. सं. १६६८) में काण्ड ४ पद्य २०८ की व्याख्या करते हुये लिखा है:—

"रायणिनामानि श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतहैमनिघण्टुशेषोक्तानि ज्ञेयानि । तद्यथा—राजादने तु राजन्या आदि । एतेषां व्युत्पत्तिस्तु अस्मत्कृतनिघण्टुशेषटीकातो ज्ञेया ।।'

इस अवतरण से स्पष्ट है कि इस टीका की रचना सं. १६६७ के पूर्व ही श्रीवल्लभने कर दी थी ।

इस टीका में भी श्रीवल्लभने संस्कृत शब्दों के राजस्थानी रूप ६०० से भी अधिक दिये हैं ।

५. अभिधानचिन्तामणिनाममालासारोद्धार टीका

आचार्य हेमचन्द्रप्रणीत अभिधानचिन्तामणिनाममाला पर श्रीवल्लभ ने सं. १६६७ में जोधपुर में, महाराजा श्री सूरसिंहजी के राज्यकाल में 'सारोद्धार' नामक विस्तृत टीका की रचना पूर्ण की:—

तथा योधपुरद्रङ्गे सूरसिंहनरेशितुः ।
राज्ये च वत्सरे सप्तषष्टिषट्चन्द्रसम्मिते ॥७॥

सारोद्धारप्रशस्तिः

यह टीका बहुत ही प्रौढ और विशाल है । इसमें टीकाकार ने शब्दों के पर्यायमात्र देने एवं प्रचलित शब्दों को साधनिका देने के चक्र में न फंसकर, विशिष्ट शब्दों की सिद्धि, व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्वचन तथा भूरिशः ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा टीका को स्पष्ट और सरस बनाने का प्रयत्न किया है । शाब्दिकसिद्धि और लिङ्गभेदादि के कारण शाब्दिक—प्रयोगों को ध्यान में रखते हुये, इस टीका में श्रीवल्लभने अन्य ग्रन्थों के विपुलता के साथ उद्धरण दिये हैं । व्याख्या में लगभग एक सौ सत्तर १७० ग्रन्थों के उद्धरण प्राप्त होते हैं ।

इस टीका में भी श्रीवल्लभ ने हैमलिङ्गानुशासन दुर्गपदप्रबोध एवं निघण्टुशेष टीका के समान ही 'इति भाषा' 'इति लोके' 'इति प्रसिद्धे' कहकर लगभग २५०० शब्दों के राजस्थानी भाषा के रूप प्रदान किये हैं ।

इस टीका से श्रीवल्लभ की प्रौढ एवं बहुमुखी प्रतिभा, शब्द–व्युत्पत्ति–ज्ञान एवं कोश, काव्यादि ग्रन्थों के विशाल ज्ञान का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। दुर्भाग्य है कि इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण टीका साहित्यजगत में अभी तक प्रकाश में नहीं आई है।

इस सारोद्धार में काण्ड ६ पद्य १७१ की व्याख्या में सम्वत् शब्द का उदाहरण देते हुए 'सिद्धहेमकुमारसम्वत् ' का उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का है। इससे यह तो निश्चित है कि इस सिद्धहेमकुमारसम्वत् का नाम–प्रचलन १७ वीं शती के उत्तरार्द्ध तक अवश्य था। तदनन्तर तो सम्भवतः इस नाम का उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता।

इस टीका को अनेकों प्रतियाँ बड़ा ज्ञानभण्डार बीकानेर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, एवं शारदा कार्यालय बीकानेर आदि स्थानों पर प्राप्त हैं।

६. सिद्धहेमशब्दानुशासन टीका

आचार्य हेमचन्द्रप्रणीत सिद्धहेमशब्दानुशासन पर श्रीवल्लभ ने इस टीका की रचना की है। इसकी एकसौ तैयालीस १४३ पत्रों की एक मात्र प्रति 'श्रीविजयधर्मलक्ष्मी–ज्ञानमन्दिर, आगरा, में सुरक्षित है। इस प्रति का मैं आज तक अवलोकन नहीं कर पाया हूँ।

७. सारस्वतप्रयोगनिर्णय

नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें सारस्वत व्याकरणस्थ कतिपय शब्दों के प्रयोग का निर्णय किया गया है। इसको रचना श्रीजिनराजसूरि के राज्य में (सं. १६७४–१६९०) में हुई है। साहित्यरसिक श्री अगरचन्द्रजी नाहटा की सूचनानुसार इसकी २३ पत्रात्मक एकमात्र प्रति 'भावहर्षीय खरतरगच्छ ज्ञानभण्डार, बालोतरा' में थी। दुःख है कि बालोतरा का ज्ञानभण्डार अस्त–व्यस्त होकर बिक चुका है।

८. विदग्धमुखमण्डन टीका

श्री अगरचन्द्रजी नाहटा की सूचनानुसार इसकी एक अपूर्ण प्रति 'पारीक संस्कृत पाठशाला, मेड़ता सीटी' में प्राप्त है।

९. अजितनाथस्तुति टीका

खरतरगच्छीय महोपाध्याय जयसागरजी ने चतुःपद्यात्मक साधारणजिनस्तुति की रचना की थी, जो कि यमकालङ्कारमय एवं स्रग्विणी छन्द में निबद्ध है। सं. १६६९ में जोधपुर में महाराजा सूरसिंहजी के राज्यकाल में श्रीवल्लभोपाध्याय का किसी विद्वान् के साथ वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) हुआ था। उसी शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में श्रीवल्लभोपाध्याय ने पूर्वोक्त साधारणजिनस्तुति का मूलार्थ का (वास्तविक अर्थ का) परिहार करके इसे अजितनाथ भगवान की स्तुति सिद्ध करते हुये भिन्न–भिन्न नवीनार्थों द्वारा व्याख्या–द्वय की रचना की। जो कि टीका की आद्यन्त–प्रशस्ति से स्पष्ट है :—

[आदि]

श्रीमन्तमजितं नुत्वा श्रीश्रीवल्लभवादिभिः।
वास्तवार्थं परित्यज्य नवीनोऽर्थः प्रकाश्यते ॥१॥

स्तुतेरजितनाथस्य द्वितीयस्य जिनेशितुः ।
यमकस्रग्विणीछन्दःकृताया जयसागरैः ॥२॥
सर्वतीर्थकृतामेषा साधारणा स्तुतिः खलु ।
तथाप्यजितनाथस्य ज्ञेया भिन्नार्थतो बुधैः ॥३॥

[अन्त]

श्रीजिनेश्वरसूरीन्द्राद्यः ख्यातः शोभतेतराम् ।
नित्योत्कृष्टक्रियाचारो गच्छः खरतराभिधः ॥१॥
युगप्रधान आभाति जिनचन्द्रस्तदीश्वरः ।
अकव्वरशिलेमाख्य–साहिदत्तघनादरः ॥२॥
तच्छिष्यः साम्प्रतं सम्यग् युवराजं भुनक्त्य[पि] ।
वादिद्विरदसिंहो यो जिनसिंहः स सूरिराट् ॥३॥
तयो राज्ये कृता वृत्तिः स्तुतेः श्रीअजितार्हतः ।
ज्ञानविमलपाठकशिष्यैः श्रीवल्लभाभिधैः ॥४॥
अत्र वृत्तौ बुधैर्ज्ञेयं व्याख्याद्वयमनिन्दितम् ।
यदशुद्धं भवेत्तद्धि शोध्यं सम्यक्कृपापरैः ॥५॥
स्तुतिरेषा कृता श्रीमज्जयसागरपाठकैः ।
यमकस्रग्विणीछन्दोमयी साधारणार्हताम् ॥६॥
केनाऽपि विदुषा सार्द्धं विवादादजितार्हतः ।
वर्णना वर्णिता त्यक्त्वा वास्तवार्थं यथामति ॥७॥
नवरसरसादित्यसंख्ये (१६६९) वर्षे सदासुरौ ।
श्रीमद्योधपुरे राज्ये सूरसिंहमहीपतेः ॥८॥
स्तुतिवृत्तिरियं शश्वद् वाच्यमाना कवीश्वरैः ।
नन्दताच्छारदादेवीप्रसादाज्जगतीतले ॥९॥

× × ×

जैनागम, व्याकरण, काव्य, कोश, निघण्टु आदि के लगभग ४० ग्रन्थों के उद्धरण देते हुए, स्तुति के प्रत्येक अक्षर एवं शब्दों के श्रीवल्लभ ने जो नवीन–नवीन अर्थों की कल्पना की है वह वस्तुतः अनुपम है और इनके प्रगाढ–पाण्डित्य की द्योतक है ।

इसकी एकमात्र ५ पत्रों की प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबादस्थ मुनि श्री पुण्यविजयजी संग्रह ग्रन्थाङ्क ५२५० पर सुरक्षित है ।

१०. शान्तिनाथ विषमार्थस्तुतिव्याख्या

"वारणं वरणं रणं रणरणं वाररणं वीरणम्" शब्दालंकृत, शार्दूलविक्रीडित छन्द में ग्रथित, यमक–श्लेषगर्भित ४ पद्यों की यह साधारण जिनस्तुति है । इस स्तुति का कर्त्ता अज्ञात है । टीकाकार ने भी कर्त्ता के विषय में कोई संकेत नहीं दिया है । पूर्वोक्त अजितनाथ स्तुति की तरह ही इस साधारणजिन स्तुति को श्रीवल्लभ ने अपनी वैदग्ध्य एवं चमत्कारपूर्ण शैली द्वारा शान्तिनाथ की स्थापना कर टीका की रचना की है । अजितनाथ स्तुति टीका की

शैली में श्रीवल्लभोपाध्याय की यह दूसरी व्याख्या है। इसका रचनाकाल भी अनुमानतः वि. सं. १६६९ के आसपास का ही संभव है। एकाक्षरी–अनेकार्थी कोषों, अनेक व्याकरणों के उणादिसूत्रों और धातुपाठों के आधार से प्रत्येक शब्द के वैचित्र्यपूर्ण अर्थों का प्रतिपादन इस व्याख्या में किया गया है।

इसकी १७वीं शताब्दी की ही लिखित दो पत्रों की एकमात्र प्रति श्री अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में प्राप्त है।

११. 'केशाः कज्जालिकाशाभाः' पद्यस्य व्याख्या

सारस्वतव्याकरणस्थ इस पद्य[1] की व्याख्या में श्रीवल्लभ ने ब्रह्मा विष्णु महेश के वर्ण, आयुध, वाहन और स्थान का अनेकार्थी दृष्टि से सुन्दर प्रतिपादन किया है और अनेक ग्रन्थों के उद्धरण देकर इसे सरल और सरस भी बनाया है। इसकी एकमात्र प्रति महिमाभक्ति जैन ज्ञानभण्डार (बड़ा भण्डार) बीकानेर, पोथी ७० ग्रन्थाङ्क १८९० में प्राप्त होती है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है :—

[आदि]

सारस्वतस्य सूत्रे यत् केशा इति पदं स्फुटम्।
तच्छ्लोकटीकामाचष्टे श्रीश्रीवल्लभवाचकः ॥

[अन्त]

कृतश्चायं श्रीज्ञानविमलमहोपाध्यायमिश्राणां शिष्य–वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिभिः स च शिष्यादिभिर्वाच्यमानश्चिरं नन्द्यात् श्रीशारदाप्रसादात्।

इस टीका में रचना का संवतोल्लेख नहीं है।

१२. 'खचरानन पश्य सखे खचरः' पद्यस्य अर्थत्रिकम्

श्रीवल्लभ ने इस पद्य[2] के भीम, प्रोषितभर्तृका और मङ्गलपाठक को आधार मानकर तीन अर्थ घटित किये हैं। रचना सुन्दर है।

इसकी एकमात्र प्रति ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में मुनि पुण्यविजयजी संग्रह में ग्रन्थाङ्क २६९७ पर प्राप्त है।

भाषा की लघुकृतियाँ—

१. चतुर्दशगुणस्थान स्वाध्याय

यह स्वाध्याय (सज्झाय) भाषा में गुम्फित है। इसमें १४ गुणस्थानों का क्रमशः वर्णन है। इसके २३ पद्य हैं। यह श्रीवल्लभ की मुनि अवस्था की प्रारम्भिक कृतियों में से है

---

१ केशाः कज्जालिकाशाभाः करकारि पनाकभाः।
विविगोगतयो दद्युः शं वोऽब्जाम्बुनगौकसः ॥१॥

२ खचरानन पश्य सखेऽखचरः
खचराङ्कितपत्रशतः खचरः।
खचरागमने रटते खचरं,
खचरी परिरोदिति हा खचर ! ॥१॥

२. स्थूलिभद्र एकत्रीसो

यह ३१ पद्यात्मक भाषा कृति श्रीसाराभाई मणिलाल नवाब के संग्रह में सं. १६५८ में श्रीमहिमासागरलिखित गुटके में प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत हैमनाममालाशिलोञ्छ–दीपिका (टीका) की रचना के सन्दर्भ में श्रीवल्लभोपाध्याय ने प्रशस्ति में लिखा है :—

"सुरत्राण अकबर प्रतिबोधक एवं अकबर से प्राप्त युगप्रधान पदधारक श्रीजिनचन्द्रसूरि के धर्मराज्य में तथा सम्राट् अकबर के समक्ष ही स्वकरकमलों से स्वपद पर स्थापित श्रीजिनसिंहसूरि के युवराज–धर्मसाम्राज्य में, वि. सं. १६५४ चैत्र कृष्णा सप्तमी को नागपुर (नागोर) में मैंने इस व्याख्या की रचना पूर्ण की है। अर्वाचीन विद्वान् द्वारा निर्मित इस व्याख्या को विद्वत्गण उपेक्षा की दृष्टि से न देखें, क्योंकि मैंने हैमव्याकरण, हैमोणादि आदि व्याकरण ग्रन्थ और नामकोषों को देखकर, गहन विमर्ष कर, पूज्यों का आशीर्वाद प्राप्त कर इस व्याख्या की रचना की है।"

संवतोल्लेखवाली रचनाओंमें श्रीवल्लभ की यह दूसरी रचना है। इस व्याख्या में टीकाकार श्रीवल्लभोपाध्याय का व्याकरण और कोष साहित्य पर एकाधिपत्य, विशाल एवं गहन अध्ययन, प्रौढपाण्डित्य एवं वैचारिकी गरिमा का दर्शन स्थान–स्थान पर प्राप्त होता है। इस व्याख्या की विशेषतायें निम्नाङ्कित हैं:—

१. प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति धातुपाठ और व्याकरण–सूत्रों द्वारा प्रदान की है।

२. सिद्धहेमशब्दानुशासन, इसीका उणादि और धातुपाठ का समस्त स्थलों पर उपयोग किया है और कतिपय स्थलों पर पाणिनीय[1] चान्द्र[2] और इन्द्रादि[3] व्याकरणों का भी प्रयोग किया है। शब्द–साधन में मतान्तर होने पर अन्य आचार्यों के विचारों को भी ग्रहण किया है।

३. लिङ्ग–निर्वचन और शब्द–प्रयोग की उपयोगिता को ध्यान में रखकर, अनेक नामकोष, निघण्टु, आयुर्वेद सूदशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं व्याकरण आदि के ४५ ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के अभिमत उद्धृत कर अपने मन्तव्य को पुष्ट किया है, इससे इस व्याख्या की प्राञ्जलता दीप्तिमान् हो उठी है। (ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के नाम परिशिष्ट में द्रष्टव्य हैं)

४. उद्धृत ग्रन्थों में विक्रमादित्यकोष (पृष्ट–३), इन्द्र (पृष्ठ–६३) एवं चन्द्र (पृ.–६३) प्रणीत कोषो के उद्धरण मिलते हैं। ये तीनों कोष सम्भवतः आज प्राप्त नहीं हैं।

५. मूलगत शब्दों की व्याख्या के साथ ही आचार्य हेमचन्द्रप्रणीत अभिधानचिन्तामणिनाममाला और शेषसंग्रहनाममाला में आगत शाब्दिक पर्यायों को छोड़कर, १७ वीं शती के प्रचलित शब्दों के सहस्राधिक नवीन पर्याय दिये हैं। इन नवीन शब्द–पर्यायों में अनेकों ऐसे शब्द हैं जिनका साहित्य में प्रयोग कदाचित् ही देखने में आता है।[4]

---

१ देखें पृ. २२, २९, ५३, ७१

२. देखें, पृ. ६४

३. देखें, पृ. ३८

४. देखें, पृ. ४६, ५२, ५४, ६० आदि

व्याख्या में कतिपय स्थल चिन्तनीय भी हैं, जैसे 'घर'[1] शब्द की व्युत्पत्ति। घर शब्द 'हन् हिंसागत्योः' हन् धातु से बनाया है। धात्वर्थ हिंसा और गतिसे घर का तालमेल ही नहीं बैठता है। अतः यह व्युत्पत्ति विद्वच्चिन्त्य अवश्य है।

ऐसे ही "हनेरन् घ च"[2] यह पाणिनीय सूत्र भी चिन्तनीय एवं शोधनीय है। वर्तमान में यह सूत्र पाणिनीय-व्याकरण में प्राप्त नहीं है। यह सूत्र किसी अन्य व्याकरण का हो और टीकाकार को स्मरण पाणिनीय का रहा हो! क्योंकि विचरणशील जैन मुनियों के लिए उस समय सन्दर्भ पुस्तकों की इतनी सुविधा ही कहां थी। अस्तु.

प्रतिपरिचय

प्रस्तुत सम्पादन में टीका की तीन प्रतियों का और मूल की तीन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है। टीका की हस्त-प्रतियों का विवरण इस प्रकार हैः—

१ प्रा०—यह प्रति राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, शाखा कार्यालय बीकानेर में, उपाध्याय जयचन्द्रजी गणि के संग्रह की है। ग्रन्थाङ्क ६५० है। साइज २५×१० सेन्टीमीटर है। पत्र संख्या २६ है और पंक्ति १७ एवं प्रतिपंक्ति अक्षर ५० है। प्रान्त में लेखन-पुष्पिका दी हुई हैः—

"सम्वत् १६५५ वर्षे श्रीमद् बृहत्खरतरगच्छे युगप्रधानभट्टारकप्रभुश्रीमच्छ्रीजिनचन्द्रसूरिराजशिष्यवाचनाचार्यधुर्यश्रीधर्म्मनिधानगणिमिश्राणां शिष्यप्रशिष्यप्रतिशिष्याध्ययनार्थं श्रीज्ञानविमलोपाध्यायैः श्रीशिलोञ्छनाममालावृत्तिरियं प्रदत्ता वाच्यमाना चिरं नन्दतु ॥"

अर्थात् टीका की रचना के एक वर्ष पश्चात् सं. १६५५ में टीकाकार के गुरु श्री ज्ञानविमलोपाध्याय ने खरतरगच्छाधीश युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि के शिष्य वाचनाचार्य श्री धर्मनिधानगणि को उनके शिष्य, प्रशिष्य एवं प्रतिशिष्यों के अध्ययनार्थ शिलोञ्छनाममाला टीका की प्रति प्रदान की।

यह प्रति सुवाच्य अक्षरों में लिखी हुई है। शुद्ध है एवं स्वयं टीकाकार श्रीवल्लभ द्वारा संशोधित है। प्रति के किनारे कीटविद्ध होने के कारण हाँसियों पर लिखे हुए कतिपय अक्षर नष्ट हो गये हैं।

२. ज०—यह प्रति भी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान शाखा कार्यालय बीकानेर में उपाध्याय श्रीजयचन्द्रजी गणि के संग्रह की ही है। ग्रन्थाङ्क ६५१ है। माप २६×११ से. मी. है। पत्र २६ हैं। और पंक्ति १६ तथा अक्षर ५० हैं। प्रान्त में लेखक-प्रशस्ति नहीं है, फिर भी अनुमानतः इसका लेखनकाल १७वीं शती का अन्तिम चरण अथवा १८ वीं शती का प्रथम चरण तो निश्चित ही है। पूर्वोक्त प्रा. संज्ञक प्रति की ही शुद्ध प्रतिलिपि प्रतीत होती है। दोनों प्रतियों में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है।

---

१. देखें, पृ, ५३,

२. ,, पृ ५३,

३. जे०—यह प्रति श्री जेठीबाई जैन ज्ञानशाला, बीकानेर के संग्रह की है। प्रति का माप २६×१०.५ से. मी. है। पत्र संख्या २६, पंक्तिसंख्या १७ एवं अक्षर ४८ हैं। प्रान्त पुष्पिका न होते हुये भी टीका रचनाकाल सं.१६५४ के लगभग ही लिखित एवं स्वयं श्री-वल्लभद्वारा परिमार्जित शुद्धतम प्रति प्रतीत होती है।

प्रा. और जे. संज्ञक प्रतियों में ङ और ड, तथा ऋ और ॠके अक्षर–न्यास में साम्य होने से अन्तर प्रतीत नहीं होता।

सम्पादन–शैली में मैंने प्रा० संज्ञक प्रति को आदर्श रूप में रखा है और जे० तथा ज० संज्ञक दोनों प्रतियों के पाठान्तर टिप्पणी में दिये हैं। प्रा० संज्ञक को मूल रूप में रखते हुये भी जो शब्द अथवा सम्बन्धित पाठ का अंश प्रा. प्रति में उपलब्ध न होने पर, जे० प्रति का अंश मूल पाठ में ही दे दिया है और टिप्पणी में उल्लेख कर दिया है कि यह शब्द या अंश प्रा० प्रति में उपलब्ध नहीं होता।

टीकाकार ने प्रत्येक श्लोक की टीका न करते हुए प्रत्येक शब्द के पर्यायों को पृथक् देकर उनकी टीका की है। टीका के साथ जो मूल का अंश है वह टीकाकार के द्वारा समर्थित पाठ है। अत एव मूल–पाठ के पाठान्तर मैंने चतुर्थ परिशिष्ट में प्रदान किये हैं।

मूल–पाठ के पाठान्तरों के लिये मैंने तीन हस्त प्रतियों का उपयोग किया हैं, जिसका विवरण इस प्रकार है:—

१. पु.—श्रीलालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबादस्थ मुनि श्री पुण्यविजयजी के संग्रह की प्रति है। क्रमाङ्क ५१५९ है। माप २६×१०.५ से. मी. हैं। पत्र ३, पंक्ति १४ अक्षर ४९ हैं। लेखनकाल अनुमानतः १६ वीं शती का अन्तिम चरण या १७ वीं का प्रथम चरण है।

२. अ.—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह की है। ग्रन्थाङ्क ५९५० है। माप २५.५×१०.८ से. मी. है। पत्र ३. पंक्ति १७ और अक्षर ४७ है। लेखनप्रशस्ति निम्नाङ्कित है:—

"लिखितो वाचनाचार्यतिलककुशलगणिभिः स्वसंविदे ॥ श्री ॥ संवद्बाणयुगरसचन्द्रतमे वर्षे ॥" [१६२५]

३. आ.—यह प्रति भी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के संग्रह की है। ग्रन्थाङ्क ८४४३ (२) है माप २६×१०.३ से. मी. है। पत्र संख्या ६ से १० है और पंक्ति १५ तथा अक्षर ४४ हैं। लेखनकाल अनुमानतः १८वीं शताब्दी है।

वस्तुतः मूल की तीनों ही प्रतियां शुद्धतम नहीं कही जा सकती। अतः अनुस्वारादि के पाठभेद न देकर अन्य पाठभेद ही दिये हैं।

प्रथम परिशिष्ट में शब्दानुक्रमणिका दी है। इसमें शब्द के आगे टी. शब्दाङ्कित शब्द टीका में प्रयुक्त नवीन शब्दों के सूचक है।

द्वितीय परिशिष्ट में टीका में उद्धृत ग्रन्थान्तरों के पद्यांश दिये हैं। तृतीय परिशिष्ट में टीकाकारोल्लिखित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के नाम प्रदान किये है। चतुर्थ परिशिष्ट में मूलपाठ के पाठान्तर हैं।

प्रस्तुत टीका में श्रीवल्लभोपाध्याय ने शब्दसाधनिका में समग्र स्थानों पर सिद्धहेमशब्दानुशासन के ही सूत्र दिये हैं। अतः उन सूत्रों के आगे मैंने कोष्ठक में सिद्धहेम का उल्लेख न कर केवल अध्याय, पाद और सूत्राँक ही दिये हैं। एवं उणादिसूत्रों के लिए कोष्ठक में( ) उ० और सूत्रांक दिये हैं। अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों में भी मैंने यथाशक्य कोष्ठक में सूत्रांक या पद्यांक देने का प्रयत्न किया है।

श्री ला. द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद के निदेशक श्रीदलसुखभाई मालवणिया ने उक्त संस्था की प्रकाशन योजना में इस ग्रन्थ को स्वीकार कर और प्रकाशन कर मुझे जो सम्पादन का अवसर प्रदान किया है इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के अधिकारी गण और श्री अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सौजन्य से सम्पादन के लिये मैं हस्तप्रतियां प्राप्त कर सका।

म. विनयसागर

अक्षय तृतीया, सं० २०३०
५ मई सन् १९७३
कोटा

आचार्यश्रीजिनदेवसूरिविरचितः

हैमनाममालाशिलोञ्छः

वाचनाचार्यश्रीश्रीवल्लभगणिविनिर्मितया 'दीपिका'टीकया संवलितः ।

प्रथमो देवाधिदेवकाण्डः

ऐँ नमः। श्रीगुरुभ्यो नमः।

श्रीमच्छ्रीफलवर्द्धिकाभिधपुरीनारीवरोरःस्थली-
राजद्धारनिभं प्रणुत्य सततं श्रीपार्श्वनाथं जिनम् ।
यः शास्त्रेष्वखिलेषु पण्डितजनस्याविष्करोति स्फुटं,
ज्ञानं भानुरिवं प्रहत्य च तमः सर्वेषु सत्कर्मसु ॥ १ ॥

कुर्वाणा वरशब्दशास्त्रकठिनप्रज्ञानधाराधरै-
रज्ञानोद्धुरदाववह्निशमनं या देवता राजते ।
तस्याः पादयुगं प्रणम्य च गुरून् वक्ष्ये शिलोञ्छाभिधे,
ग्रन्थे वृत्तिमहं विलोक्य विदितां ग्रन्थावलीं भूरिशः ॥२॥

तत्र प्रथममनेककोविदवन्दारुप्रवरनरवृन्दवन्दितपादारविन्दविलसद्वाग्युक्तिव्यक्ति-शक्तिविजितसमस्तप्रशस्तग्रन्थपरमार्थसमर्थावगतपदार्थसार्थश्रीमत्पुरन्दरसूरयस्तर्कव्याकरण-साहित्यालङ्कारच्छन्दोज्योतिषनाटकपेटकप्रमुखानेकग्रन्थकोटचम्भोनिधयः श्रीमद्वृद्ध-**तरखरतरगच्छालङ्कारस्फारहारप्रकारसारश्रीजिनप्रभसूरिशिष्यमुख्यश्रीजिनदेवसूरयः**, श्री**पूर्णतल्लगच्छ**गगनाङ्गणदिनमणिप्रगुणगुणगणमणिप्रवरार्णवोपमान**श्रीदेवचन्द्रसूरि**विने-यसद्भागधेयमहिमामेयसकललोकव्यापिनिर्मलकलामण्डलचन्द्रमःप्रतिमकीर्त्युच्चयश्री**हेम-चन्द्राचार्य**विरचिताऽ**भिधानचिन्तामणिनाममालाशिलोञ्छं** कर्तुमिच्छवः [2]स्वच्छा-तुच्छशेमुषीमन्मनीषिसमयपरिपालनायाऽविघ्नेन प्रारिप्सितग्रन्थसमाप्तिविधानाय च [3]विशिष्टशिष्टाभीष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरं मङ्गलमाचरन्ति । तद् यथा—

---

१. जे. भानुरिवापहत्य । २. जे. स्वच्छशेमुषी° । ३. जे. विशिष्टाभीष्ट° ।

अर्हं वीजं नमस्कृत्य गुरूणामुपदेशतः ।
श्रीहैमनाममालायाः शिलोञ्छः क्रियते मया ॥ १ ॥

व्याख्या— 'मया' श्रीजिनप्रभसूरिचरणारविन्दचञ्चरीकेण **श्रीजिनदेवसूरिणा** 'शिलोञ्छः क्रियते'। शिलोञ्छः इति कोऽर्थः ? उच्यते– "शिलत् उञ्छे" शिल्यते शिलम् कणिशादिकम्, **श्रीहेमचन्द्राचार्यकृताऽभिधानचिन्तामणिनाममालावृत्त्यवस्थितशब्दजातलक्षणम्**, तस्य उञ्छनम्—चुण्टनम्[1] शिलोञ्छः । यद् वा, शिलोञ्छः—कणिशादिचुण्टनम्[2], ततो विवक्षितग्रन्थोऽपि शिलोञ्छ इव शिलोञ्छः । क्रियते—विधीयत इत्यर्थः । कस्याः ? इत्याह—'श्रीहैमनाममालायाः' हेम इति "ते लुग् वा" [३।२।१०८] इत्यनेन उत्तरपदस्य लोपे हेमचन्द्रः, यथा 'देवो देवदत्तः' 'सत्या सत्यभामा' इत्यादिवत्। तेन हेमेन—हेमचन्द्राचार्येण प्रोक्ता हैमी "तेन प्रोक्ते" [६।३।१८१] इति अण्, नाम्नां माला नाममाला । हैमी चासौ नाममाला च हैमनाममाला । "पुंवत् कर्मधारये" [३।२।५७] इति पुंवद्भावः । श्रिया युक्ता प्रधाना वा हैमनाममाला श्रीहैमनाममाला, तस्याः श्रीहैमनाममालायाः, श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताऽभिधानचिन्तामणिनाममालाया इत्यर्थः । किं कृत्वा ? 'नमस्कृत्य' नमस्कारं विधाय इत्यर्थः । किम् ? 'अर्हम्' अर्हति चतुःषष्टिविशिष्टसुरेश्वरकृतां पूजाम् इति अर्हम् । "अः" [उ.२] इति अ प्रत्ययः । पृषोदरादित्वात् सानुनासिकत्वम् । अर्हम् इति मन्तो निपातोऽप्यस्ति। ननु अर्हम् इति अव्ययम् स्वरादौ चादौ च न दृष्टम् तत् कथमव्ययम् ? सत्यम्,

"इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते ।
प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥" इति ।

किंविशिष्टम् अर्हम् ? 'वीजम्' सिद्धचक्रस्य पञ्च बीजानि तेषु मध्ये च इदम् आदिबीजम् इत्यर्थः । यद् वा, "वींकृ[3] प्रजननकान्तिअसनखादनेषु च" वेति जनयति सुखं ध्यातम् सत् इति, प्रारिप्सितग्रन्थसमाप्तिं वा इति वीजम् । "वियो जक्" [उ.१२७] इति जक् प्रत्ययः । इदं हि शास्त्रादौ पठितम् सद् अविघ्नेन शास्त्रसमाप्तिं विदधाति, अत एवायमर्थः । यद् वा, इह शास्त्रे श्रीमज्जिनदेवसूरिभिः समग्रदर्शनानुयायी नमस्कारो विदधे । तथाहि—

"अकारेणोच्यते विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तदन्ते परमं पदम् ॥"

---

१. जे. चुटनम् । २. जे. कणिशादिचुटनम् । ३. जे. ज. प्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।

इति श्लोकेन 'अर्हम्'शब्दस्य विष्णुप्रभृतिदेवतात्रयाभिधायित्वेन लौकिकागमेष्वपि अर्हम् इति पदं उपनिषद्भूतम् इत्यावेदितं भवति। 'तदन्ते परमं पदम्' इति तुर्यपादस्य अयमर्थः—तस्य अर्हम् शब्दस्य अन्ते उपरितनप्रदेशे, पदम्—सिद्धि-शिलारूपम्, तदाकारत्वात् अनुनासिकरूपा कलाऽपि परमं पदम् इत्युक्तम्। कस्मात् मया शिलोञ्छः क्रियते ? इत्याह—'गुरूणाम्' गृणन्ति उपदिशन्ति अनेकशास्त्रतत्त्वम् इति गुरवः, "कृगॄकृत उर् च" [उ.७३४] इति कित् उः। तेषां गुरूणाम् श्रीमच्छ्री-जिनप्रभसूरिसूरीश्वराणाम् 'उपदेशतः' उपदेशनम् उपदेशः अनुज्ञा तस्मात् उप-देशतः—आदेशात् इत्यर्थः। इति प्रथमश्लोकार्थः ॥ १ ॥

अथ तावदादौ देवाधिदेवकाण्डस्य शिलोञ्छमाह—

सर्वीय इत्यपि जिने

सर्वेभ्यः प्राणिभ्यो हितः सर्वीयः, "तस्मै हिते" [७।१।३५] इति हितेऽर्थे उपकारकेऽर्थे ईयः प्रत्ययः। जयति रागद्वेषमोहान् इति जिनः, "जीण्-शीदीवुध्यविमीभ्यः कित्" [उ.२६१] इति किद् नः प्रत्ययः, तत्र। विधाः वेधाश्च सान्तौ इमौ। "तॄजिभूवदि" [उ. २२१] इति बहुवचनाद् टित् अन्त प्रत्यये अर्हन्तोऽपि।

" अर्हन्तः क्षपणको जिनः " इति **विक्रमादित्यकोषः**।

शम्भवे सम्भवोऽपि च।

शम्—सुखम् भवति अस्मिन् स्तुते इति शम्भवः, तत्र। गर्भगतेऽप्यस्मिन्नभ्यधिक-विविधसस्यसम्भवात् सम्भवः। समन्ताद् भवः श्रेयो अस्माद् अस्मिन् स्तुते इति वा सम्भवः। सम्भवति सुखम् अस्माद् वा। "अच्" [५।१।४९] इति अच्।

श्रीसुव्रते मुनिरपि

शोभनानि व्रतानि अस्येति सुव्रतः। यद् वा, अस्मिन् गर्भस्थिते जननी सुव्रता जातेति सुव्रतः। श्रिया—सकलत्रिभुवनजनमनश्चमत्कारकारिमनोहारिपरमार्हन्त्य-महामहिमविस्तारिस्पष्टाष्टप्रातिहार्यशोभया चतुस्त्रिंशदतिशयविभूत्या वा समन्वितः सुव्रतः श्रीसुव्रतः, तत्र श्रीसुव्रते—मुनिसुव्रततीर्थंकरनाम्नि। "मनिंच् ज्ञाने" मन्यते जगतस्त्रिकालाऽवस्थाम् इति मुनिः। "मनेरुदेतौ चास्य वा" [उ.६१२] इति इ प्रत्यय उपान्त्यस्य च उत्वम्। मुनिसुव्रतैकदेशो वा मुनिः। 'भीमो भीमसेन' इति न्यायात्।

नेमौ नेमीत्यपीष्यते ॥ २ ॥

धर्मचक्रस्य नेमिवद् नेमिः, नयति सुखम् भक्तजनानाम् इति वा नेमिः । "नीसावृयुशृवलिदलिभ्यो मिः" [उ.६८७] इति मिः । नेमिः नेमिनाथो जिनः, तत्र । नेमः—संयमरूपा मर्यादा सः अस्यास्तीति नेमी । नीयते श्रेयोऽनेनेति वा नेमी[1] । "बहुलम्" [५।१।२] इति वचनाद् मिन् । यथा— "वन्दे सुव्रतनेमिनौ ।" [ ] इति । तथा—"इदं किल महातीर्थं श्रीनेम्येतस्य नायकः ।" [ ] ॥ २ ॥

षष्ठे गणेशे मण्डितपुत्रोऽपि कथितो बुधैः ।

षष्ठे गणेशे षण्णाम् संख्यापूरणे, गणाधिपे मण्डितनाम्नि । मण्डितस्य[2]—मण्डितनाम्नः पितुः पुत्रो मण्डितपुत्रः वसिष्ठगोत्रीयः । कथितः—प्रोक्तः, बुधैः विद्वद्भिः ।

मरुदेव्यपि विज्ञेया युगादिजिनमातरि ॥ ३ ॥

मरुद्भिः—देवैः दीव्यते—स्तूयते मरुदेवी । पृषोदरादित्वात् तलोपः। "नवा शोणादेः" [२।४।३१] इति विकल्पेन ङीः । विज्ञेया—ज्ञातव्या । युगादिजिनस्य—श्रीआदिनाथतीर्थंकरस्य माता—जननी युगादिजिनमाता, तस्यां युगादिजिनमातरि ॥ ३ ॥

चक्रेश्वर्यामप्रतिचक्राऽपि

चक्रस्य ईश्वरी चक्रेश्वरी श्रीआदीश्वरजिनस्योपासिका, तस्याम् । न विद्यते प्रति अनुरूपम्—समानं चक्रम् यस्याः सा अप्रतिचक्रा ।

अजिता च कविभिरजितबला ।

बलेन न जितेति अजितबला । राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः । अजितबलैकदेशे अजिता, 'भामा सत्यभामा' 'सेनो भीमसेन' इति न्यायात् । न जीयते स्म केनापीति वा अजिता । कविभिः—विद्वद्भिरुक्ता इति शेषः । द्वितीयश्रीअजितनाथजिनस्योपासिका, तन्नाम ।

श्यामा त्वच्युतदेव्यपि

श्यामा—श्यामवर्णत्वात्, "श्यैङ् गतौ" श्यायते स्वामिभक्तिम् इति वा श्यामा । "विलिभिलिसिधीन्धि" [उ. ३४०] इति किद् मः । न च्यवते अच्युता । दीव्यते—स्तूयते दीव्यति वा जिनम् इति देवी । अच्युता चासौ देवी च अच्युतदेवी । "पुंवत् कर्मधारये" [३।२।५७] इति पुंवद्भावः । श्रीपद्मप्रभजिनोपासिका तन्नाम ।

---

१. जे. ज. 'नेमी' नास्ति । २. जे. 'मण्डितस्य' नास्ति ।

सुतारकोक्ता सुताराऽपि ॥ ४ ॥

शोभना तारका अस्याः सुतारका । सुतराम् तरति वा । "तारका-वर्णका॰" [२ । ४ । ११३] इति निपातनाद् णके इत्वाभावः । शोभना तारा अस्याः सुतारा । सुतराम् तारयति भक्तान् विघ्नादिभ्य इति वा । श्रीसुविधिनाथजिनोपासिका तन्नाम ॥४॥

भद्रकृत् तीर्थकृद् भद्रः

भद्रम् मङ्गलम् करोति भद्रकृत्, क्विप् । स चासौ तीर्थकृच्च भद्रकृत् तीर्थकृत् । आगाम्युत्सर्पिण्याम् चतुर्विंशस्तीर्थंकरः[1] तन्नाम । भद्रहेतुत्वात् भद्रः । भद्रम् अस्यास्तीति वा भद्रः । अभ्रादित्वाद् अः । भद्रकर इत्यपि ।

श्रमणः श्रवणोऽपि च ।

श्राम्यति महातपसां करणाद् इति श्रमणः । "नन्द्यादिभ्योऽनः" [५ । १ । ५२] इति अनः । "श्रुंट् श्रवणे" "गतौ" इति अन्ये । श्रूयते सर्वलोकानामत्यन्तमान्यत्वेन इति श्रवणः । "तॄकृशॄपॄभॄवॄश्रुरुरुहि॰" [उ.१८७] इति अणः । साधन्त–साधयन्तौ अपि ।

भद्रे भन्द्रमपि प्राहुः प्रशस्तमपि कोविदाः ॥५॥

"भदुङ् सुखकल्याणयोः" भन्दते भद्रम्, "भन्देर्वा" [उ.३९१] इति रः नलुक् च विकल्पेन, नलोपाभावे भन्द्रम् । "शंसू स्तुतौ च" प्रशस्यते प्रस्तूयते जनैरिति प्रशस्तम् । क्त्वि वेट्त्वात् क्तयोर्नेट् । शस्तम् अपि । कोविदाः–पण्डिताः प्राहुः–कथितवन्तः । भावित्रम्, सुविदत्रम्, अगः सकारान्तोऽयम्, शुभ्रिः, मयश्च सन्तोऽयम्[2] । यदत्र मौलाभिधानचिन्तामणिनाममालाक्रमव्यत्ययकरणम्,[3] तत्र ग्रन्थकर्तुर्विवक्षाभाव एव हेतुरिति । एवमग्रेऽपि यथास्थानमवसेयमिति ॥५॥

प्रव्रजनं परिव्रज्या

प्रव्रजनम्–प्रव्रज्या दीक्षा । परि समन्ताद् व्रजनम्–संसाराद् गमनमिति परिव्रज्या । उभयत्र "आस्यटिव्रज्यजः क्यप्" [५।३।९७] इति क्यप् प्रत्ययः ।

शिष्योऽन्तिपदपि स्मृतः ।

शासनीयः शिष्यः । "दृवृग्स्तुजुषेतिशासः" [५।१।४०] इति क्यपि, "इसासः शासः॰" [४।४।११८] इति इस् आदेशः । अन्तिके–गुरूणाम् समीपे सीदति–तिष्ठतीति अन्तिषद् । अत्र सदि धातौ क्विबन्ते । "वाऽन्तमान्तितमान्ति-

१. जे. तीर्थङ्करः २. जे. सान्तोऽयम् । ३. प्र. ज. प्रत्योः 'मौलाभिधानचिन्तामणिनाममालानामपाठक्रमापेक्षया नामपाठक्रमव्यत्ययकरणम्' इति पाठान्तरम् ।

तोन्तियान्तिपत्" [७।४।३१] इति कलोपः, सस्य षत्वम् च । पक्षे अन्तिकसद् अपि स्मृतः—कथित इत्यर्थः । दमाहृक—माणवौ अपि ।

इति प्रथमकाण्डस्य शिलोञ्छोऽयं समर्थितः ॥६॥

इति अमुना प्रकारेण प्रथमकाण्डस्य श्रीहैमनाममालायाः प्रथमप्रक्रमस्य अयमसौ प्रत्यक्षः शिलोञ्छः समर्थितः—प्रकटित इत्यर्थः ॥६॥

इति श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीयश्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्तानीय-वाचनाचार्य-
श्रीभानुमेरुगणिशिष्यमुख्यश्रीज्ञानविमलोपाध्यायविनेयवाचनाचार्य-
**श्रीवल्लभगणिविरचितायां श्रीहैमनाममालाशिलोञ्छ-
टीकायां** प्रथमदेवाधिदेवकाण्डस्य
शिलोञ्छः समाप्तः ।

द्वितीयो देवकाण्डः ।

अथ द्वितीयदेवकाण्डस्य शिलोञ्छो विव्रियते-

व्योमयानमपि प्रोक्तं विमानं बुधपुङ्गवैः ।

व्योम्नि—आकाशे यानम्—गमनमस्य व्योमयानम् । व्योम्नि—विहायसि यान्ति—व्रजन्ति अनेन वा । पुंक्लीबलिङ्गः । विमान्ति वर्तन्तेऽस्मिन् देवा इति विमानम् । पुंक्लीबलिङ्गः । बुधपुङ्गवैः—पण्डितप्रकाण्डैः प्रोक्तम्—निगदितमिति ।

स्यात्समुद्रनवनीतं पेयूषमपि चामृतम् ॥७॥

समुद्रस्य—क्षीरसागरस्य नवनीतमिव समुद्रनवनीतम् । **देश्यामपि** । "पां पाने" पीयते पेयूषम् । "कोरदूषाटरूष°" [उ. ५६१] इति ऊषे निपात्यते । पुंक्लीबलिङ्गः । नास्ति मृतमत्र इति अमृतम् ॥७॥

कथ्यन्ते व्यन्तरा वानमन्तरा अपि सूरिभिः ।

विविधेषु शैलकन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रति वसन्तीति व्यन्तराः । पृषोदरादित्वात् साधुः । वनानां समूहो वानम्, तस्यान्तरे—मध्ये भवन्तीति वानमन्तराः । पृषोदरादित्वात् साधुः । वनान्तरेषु वनविशेषेषु भवा अवर्णागमकरणाद् वा वानमन्तराः । कथ्यन्ते—भण्यन्ते सूरिभिः—पूर्वाचार्यैरिति ।

द्योतिस्तथा वृष्णिपृष्णी प्रोक्ता रश्म्यभिधायकाः ॥८॥

द्योतते द्योतिः । "किलिपिलिपिशिचिटित्रुटिशुण्ठि°" [उ. ६०८] इति आदिशब्दाद् इः प्रत्ययः । "वृषू सेचने" वृष्यते वृष्णिः । "पृषू[1] सेचने" इत्यस्मादपि इच्छन्ति एके, तन्मते पृष्यते पृष्णिः । उभयत्र "ऋद्धृसृकुवृषिभ्यः कित्" [उ. ६३५] इति कित् णिः । उभावपि पुंस्त्रीलिङ्गौ । प्रोक्ताः—कथिताः । रश्म्यभिधायकाः—किरणवाचकाः । शिखी, अभीषुः, स्यूमः, राजन्यः, घुम्रः, सूरः, द्यौत्रम्, आण्ड्रम्, आशित्रम्[2] तालव्यमध्योऽयम्, पपीः[3] च ॥८॥

समुद्रनवनीतं च विदुश्चन्द्रमसं बुधाः ।

बुधाः—पण्डिताः चन्दति—दीप्यते आह्लादयति वा चन्द्रमाः । 'चन्दो रमस्'*[उ. ९८६] इति रमस् । तं चन्द्रमसम्— चन्द्रम् । समुद्रस्य क्षीरसागरस्य नवनीत-

---

१. जे. पृषु । २. जे. अशितम् । ३. जे. पपी च । * मुद्रितपुस्तके 'चन्दोरमस्' इति पाठः ।

मिव समुद्रनवनीतम्। तत् विदुः--जानन्ति कथयन्तीति यावत्। देश्याम् अपि अयम्। अमृतनिर्गमः, संस्कृते देश्याम् अपि। रोचन-विरोचनाऽर्हसान-मन्दसान[1]-संस्तवान-विशेलिमाऽऽदयोऽपि।

चन्द्रिका चन्द्रिमाऽपि स्यात्

चन्द्रः अस्ति अस्यां चन्द्रिका। "अतोऽनेकस्वरात्" [७।२।६] इति इकः। चन्द्रे निर्वृत्ता चन्द्रिमा। "भावादिमः" [६।४।२१] इति इमः प्रत्ययः। चन्दति--दीप्यते आह्लादयति वा चन्द्रिमा। "वयिमखचिमादयः" [उ. ३५०] इति इमे निपात्यते। स्याद्—भवेत्। चन्दिर—सुवने अपि।

इल्वला इन्विका अपि ॥९॥

इलन्ति—गच्छन्ति इल्वलाः, मृगशिरःशिरःस्थाः पञ्च तारकाः। "तुल्वलेल्वलादयः" [उ. ५००] इति वलप्रत्ययान्तो निपात्यते। "इवु व्याप्तौ च" चकारात् प्रीणने, उदित्वाद् नकारागमे इन्वन्ति—प्रीणन्ति व्याप्नुवन्ति विहायसि वा इन्विकाः। 'णके आप्' स्त्रीलिङ्गः ॥९॥

अनूराधाप्यनुराधा

"राधं साधंट् संसिद्धौ"। अनुराध्नोति अनूराधा। अनुराधा[2], मैत्री। "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" [३।२।८६] इति वा दीर्घः।

गुरुः सप्तर्षिजोऽपि च।

गृणाति—उपदिशति तत्त्वमिति गुरुः, बृहस्पतिः। "कृगृकृत उर् च"[उ. ७३४] इति कित् उः। सप्तर्षयो मरीचिप्रमुखाः। यदाह—-

"मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महातेजाः सप्तमः परिकीर्त्तितः ॥"

तेभ्यो जायते सप्तर्षिजः। अङ्गिरसो मुनेरपत्यत्वात्। "समुदाये प्रवृत्ताः शब्दा एकदेशेऽपि प्रवर्तन्ते[3]" इति न्यायात्।

सौरिः सौरोऽपि

सूरस्यापत्यं सौरिः—शनिः। "अत इञ्" [६।१।३१] इति अपत्येऽर्थे इञ्। सूरस्यापत्यं सौरः। "ङसोऽपत्ये" [६।१।२८] इति अण्। आदिदन्त्यौ उभौ।

राहुस्तु ग्रहकल्लोल इत्यपि ॥१०॥

अभ्रपिशाचोऽपि तथा

---

१. जे. 'मन्दसान' शब्दो नास्ति। २. जे. 'अनुराधा' शब्दो नास्ति। ३. जे. वर्तन्ते।

रहति गृहीत्वा चन्द्रार्कौ स्वशरीरं वा इति राहुः । "कृवापाजि०" [उ. १] इत्यादिना उण् । "कलि शब्दसंख्यानयोः" ग्रहेषु कल्यते क्रूरग्रहत्वात् इति ग्रहकल्लोलः । "पिञ्छोलकल्लोल०" [उ. ४९५] इति ओले निपात्यते । ग्रहेषु कल्लोल इव वा ग्रह-कल्लोलः । अभ्रे—आकाशे—पिशाच इव अभ्रपिशाचः। एतौ **देश्याम्** अपि । रविवैरि-भयानकशश्यरयोऽपि ।

नाडिका नालिकाऽपि च ।

"णल गन्धे" । नलति—अर्दति[1] नाली । ज्वलादित्वाद् णः। नाल्येव नालिका । डलयोरैक्ये नाडिका । "नडण् अवस्कन्दने" इत्यस्य धातोर्नाडीति **नन्दी** ।

रात्रौ यामवती तुङ्गी

राति सुखम् रात्रिः । "राशदि०" [उ. ६९६] इत्यादिना त्रिः । "इतोऽ-क्त्यर्थात्" [२।४।३२] इति ङ्यां रात्री इत्यपि । "तिमिरपटलैरवगुम्फिता[2] रात्र्यः" इति । तत्र यामा विद्यन्ते अस्यां यामवती । "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" [७।२।१] । "तमूच् काङ्क्षायाम्" । ताम्यन्ति चक्रवाका अस्यां तुङ्गी । "कमितमिशमिभ्यो डित्" [उ. १०७] इति डित् उङ्गः । **देश्याम्** अपि । शशिशरीरेश्वरी, किल्विषी, वसिः दन्त्यान्तोऽयम्, मरणी, क्षित्वरी च ।

निःसम्पातो निशीथवत् ॥११॥

निः—निःशेषार्थे निश्चयार्थे वा । निःसम्पातः—अर्थात् शयनम्—अत्र जना-नामिति निःसम्पातः । नियतं शेरते अस्मिन् निशीथः । "न्युद्भ्यां शीङः" [उ.२२८] इति कित् थः । अत एव **कात्यो** निशीथम् सुप्तजनम् आह । निशीथवत् निशीथ इव । अस्य प्रसिद्धिं विवक्षित्वोपमानत्वमुक्तम् । कथम् अवबुध्यते ? उच्यते—यथा निशीथ-शब्दोऽर्धरात्रवाचकस्तथा निःसम्पातोऽपीति । एवमन्यत्रापि 'वत्'अर्थो व्याख्येयः ॥११॥

तमः स्यादन्धातमसम्

ताम्यन्ति अनेन तमः, अन्धकारः । "अस्" [उ. ९५२] इति अस् । अन्धयति [इति] अन्धम् तच्च तत् तमश्च अन्धातमसम् । "समवाऽन्धात् तमसः" [७।३।८०] इति अत् समासान्तः । बाहुलकाद् दीर्घः । सहुरिः, दन्त्यादिरयम्, काणूकम् , छाया, नभाकः, शार्वरम् ताल्व्यादिरयम्, तुहिनम् , मुहिरम् च ।

वर्षाः स्युर्वरिषा अपि ।

---

१. जे. ज. अर्दयति । २ जे. ज. अवगुण्ठिता ।

व्रियते—छाद्यते नभोऽत्र मेघैरिति वर्षाः। "वृ-कृ-तृ-मीङ्-माभ्यः पः" [उ. ५४०] इति षः। वर्षम् अस्ति आसु वर्षन्तीति वा। नित्यं बहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गश्च। यथा—पर्षत्, परिषत्, मार्षः, मारिषः, आर्भटी, आरभटी इत्यादि, तथा वरिषा अपि।

खेऽन्तरीक्षम्

खन्यते खम्। "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः। "अशौटि व्याप्तौ"। अश्नुते इति वा खम्। "अशेर्डित्" [उ. ८७] इति डित् खः, आकाशम्, तत्र अन्तर्द्यावा-पृथिव्योर्मध्ये-ईक्ष्यते-विलोक्यते अन्तरीक्षम्। अन्तर्मध्ये ऋक्षाणि इति वा। पृषोदरा-दित्वात् साधुः। अनङ्गम्, वृजनम्, मृज्जनम्, गारित्रम्, रोहिषम्, वेप्पः, निवेप्पः एतौ पञ्चमवर्गीयपकारान्तौ। नभसः, वेशन्तः, सूमम्, श्यामम्, खजाकः, पतत्रम् च।

सांसृष्टिकमपि तत्कालजे फले ॥१२॥

तत्कालजे—तात्कालिके फले—संसृष्टम्—प्रयोजनमस्य सांसृष्टिकम्। "प्रयोज-नम्" [६।४।११७] इति इकण् ॥१२॥

मेघमाला कालिकाऽपि

मेघानाम् माला मेघमाला—मेघपङ्क्तिः। काली कालवर्णत्वात्, काली एव कालिका। कालो वर्णोऽस्ति अस्या इति वा। "अतोऽनेकस्वरात्" [७।२।६] इति इकः। कालयति वा। णकः प्रत्ययः। मेघिका देश्याम्।

वार्दलं चापि दुर्दिनम्।

वाराम्—पाथसाम्—दलम् वार्दलम्। देश्याम् अप्ययम्। दुष्टम् दिनम् अत्र दुर्दिनम्। मेघजम् तमः तन्नाम। यद् भागुरिः—"दुर्दिनं ह्यन्धकारोऽब्दैः" इति।

सुत्रामाऽपीन्द्रे

सुष्ठु सुतराम् वा त्रायते—पालयति सूत्रामा। "मन्" [उ. ९११] इति मन्। शोभनम् त्राम—बलम् अस्य वा। बाहुलकात् दीर्घः। "इदु परमैश्वर्ये" इन्दति इन्द्रः। "भीवृधि" [उ. ३८७] इति रः, तत्र स्वाराट्-निषड्वर-जित्वे-पचत-जघ्नु-वल्मित-शैलारि-वलह-वार्वाहवाहा अपि।

शतारः शतधारोऽपि चाशनौ ॥१३॥

शतम्—बहूनि अराणि—चक्राङ्गानि अस्य शतारः। शतम्—बह्व्यो धारा अस्य शतधारः। अश्नुते—व्याप्नोति—ज्वालाभिः रिपून् इति अशनिः—वज्रम्। पुंस्त्रीलिङ्गस्तत्र "सदिवृत्यमिधम्यश्यटिकटचवेरनिः" [उ. ६८०] इति अनिः। दर्वरम्, बिलाहकः, जंसुरिः, सृणीकः दन्त्यादिरयम्, सृणिः च दन्त्यादिरयम् ॥१३॥

१, जे. जिन्वर।

आश्विनेयौ स्वर्गवैद्यौ

अश्विन्या अपत्ये आश्विनेयौ। "शुभ्राऽऽदिभ्यः" [६।१।७३] इति अपत्येऽर्थे एयण्। स्वर्गस्य वैद्यौ स्वर्गवैद्यौ।

हर्यक्षोऽपि धनाधिपः।

हरि–पिङ्गलम्–अक्षि अस्य हर्यक्षः। "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" [७।३।१२६] इति टः प्रत्ययः। पिङ्गलैकनेत्रत्वात्। धनस्याधिपः–स्वामी–धनाधिपः। स्वेश्वरः, बिलः, ऐलः, ईशवयस्यः, ईहावसुः च।

अजगवमजगावमपि शङ्करधन्वनि ॥१४॥

अजगवः–अस्थिविकारः स विद्यते अस्य अजगवम्। अभ्रादित्वात् अः। अजः–अनुत्पन्नः शाश्वतो वा गौः–वृषभो यस्य सः अजगुः–ईश्वरः तस्य[1] धनुः–आजगवम्, अजगवम् वा। "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति इदमर्थे अणि आगते तस्य च णित्त्वविकल्पात् णित्त्वपक्षे वृद्धौ आजगवम्, णित्त्वाभावपक्षे वृद्ध्यभावात् अजगवम् इति रूपसिद्धिरिति **एके**। "पिनाकोऽजगवं धनुः" [१।१।३७] इति **अमरः**। अजकवम् अपि। अजगा ग्रहणस्थानम् अस्य अस्ति अजगावम्। "मण्यादिभ्यः" [७।२।४४] इति वः। यदाहुः **प्राच्याः**—"अजगावं धनुः प्रोक्तम्" इति। क्लीबलिङ्गावेतौ। शङ्करस्य–महादेवस्य धन्व–चापम् शङ्करधन्व, तत्र ॥१४॥

गौर्यां दाक्षायणीश्वर्यौ

गौरवर्णत्वाद् गौरी–पार्वती तस्याम्। दक्षस्यापत्यम् दाक्षिः, तस्यापत्यं दाक्षायणी। अनन्तरापत्येऽपि पौत्राद्युपचारात् "यञिञः"[६।१।५४] इति आयनण्। "जातेरयान्त०" [२।४।५४] इति ङीः। अश्नुते ईश्वरी, "अश्नो[ते]रीच्चादेः [उ. ४४२]" इति वरटि ङ्यां सिद्धम्। ईश्वरस्य भार्या वा। "धवाद् योगात्०" [२।४।५९] इति ङीः। सिंहवासा सौरिस्वसा च।

नारायणे जलेशयः।

नरस्यापत्यं नारायणः। नडादित्वाद् आयनण्। यद् वा, नृणातेर्बाहुलकात् कर्मणि घञि, नाराः आपः ता अयनं यस्येति[2] नारायणः। यन्मनुः—

"आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं, तेन नारायणः स्मृतः।" [मनुस्मृति अध्या. १ श्लो. १०]

इति। नारम्–अम्मयम् नरसमूहो वा, अयनम् अस्येति वा, तत्र। जले शेते जलेशयः। "अः" [उ. २] इति अः। "शयवासिवासेष्वकालात्" [३।२।२५] इति

---

१. जे. ज. तस्येदम्। २ जे. अस्येति।

सप्तम्यलोपः । वारिक्षयः, वारीशशायी, श्रीशः, अहिवैरिवाहः, सुरारिहा नन्तोऽयम्,[1] सहोरः, आशिरः च मध्यताल्व्योऽयम् ।

कौमोदकी कौपोदकी

कुमोदकस्य विष्णोरियं कौमोदकी । "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण् । कूपोदके भवा कौपोदकी । "भवे" [६।३।१२३] इति अण् । **संहितासु मेण्ठादौ** चायं पाठः—"कूपोदकाज्जाता" इति **आम्नायः** । उभयत्र "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङीः । कृष्णगदानाम्नी ।

आ ई शब्दौ श्रियां मतौ ॥१५॥

अटति अतति वा आ । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । अस्य विष्णोर्भार्या ई । "धवाद् योगात्०" [२।४।५९] इति ङीः । ईः इत्यपि । **यदाहुः**—

"ई रमा मदिरा मोहे महानन्दे शिरोभ्रमे ।
स्त्रीलिङ्गोऽयमुणाद्यन्तो नाऽतोस्माल्लोपनं सुपः ॥
ईयौं योऽत्र जसा रूपं स्यादमा रूपमीम् शसीः ।" इति ।

आ + ई, इत्यत्र "न सन्धिः"[१।३।५२] इत्यनेन सन्ध्यकरणमदुष्टम् । श्रयतीत्येवंशीला श्रीः । "दिद्युद्दद०" [५।२।८३] इत्यादिना क्विपि दीर्घो निपात्यते । "इतोऽक्त्यर्थात्" [२।४।३२] इति ङ्यां श्रियम् इत्यपि भवतीति **दुर्घटे रक्षितः** । तस्यां श्रियाम्—लक्ष्म्याम् मतौ—सम्मतावित्यर्थः । एधनुः, आजिहीर्षणिः, यशः, वारीशसूः, वला, सरोरुहावासा, हरिशरीरेश्वरी च ॥१५॥

कन्तुः कन्दर्पे

"कमूङ् कान्तौ" । काम्यते कन्तुः । "कृसिकम्यमिगमितमि०" [उ.७७३] इति तुन् । कम् अव्ययम् कुत्सायाम् । कम्—कुत्सितो दर्पोऽस्य कन्दर्पस्तत्र श्रेयो, सुहृत्, वर्वरः, वासरः, मुहिरः, वन्द्रः, गदयित्नुः, भिदुः, हयिः, शादः, रमतिः, श्रीसूः, शम्बरारिः च ।

सिद्धार्थः सुगते परिकीर्त्तितः ।

सिद्धोऽर्थोऽस्येति सिद्धार्थः" । "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः इति **वचनात्** । शोभनम् गतं—ज्ञानमस्य सुगतः—बुद्धस्तत्र । परिकीर्त्तितः—कथितः । मुनीन्द्रैकदेशे मुनिरपि, भीमवत् । "सन्ति पदेषु पदैकदेशाः" इति **वचनात्** ।

अङ्गे व्याख्याविवाहाभ्यां प्रज्ञप्तिरपि पञ्चमे ॥१६॥

---

१ जे. नान्तोऽयम् ।

पञ्चमे अङ्गे भगवतीनाम्नि विविधा जीवाजीवादिप्रचुरतरपदार्थविषयाः, आ–अभिविधिना कथञ्चिन्निखिलज्ञेयव्याप्त्या मर्यादया वा परस्परासंकीर्णलक्षणाभिधानरूपया, ख्याः–ख्यानानि भगवतः श्रीमहावीरस्य गौतमादिविनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्यास्ताः प्रज्ञाप्यन्ते–प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः। अथवा विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्त इति व्याख्याः अभिलाप्यपदार्थवृत्तयस्ताः प्रज्ञाप्यन्ते यस्यां सा। अथवा व्याख्यानाम्–अर्थप्रतिपादनानाम् प्रकृष्टाः ज्ञप्तयः–ज्ञानानि यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः। विशिष्टाः वाहाः अर्थप्रवाहाः विवाहाः––सूत्रार्थविचारपद्धतयः इत्यर्थः–तेषां प्रज्ञप्तिः–प्रज्ञापनम् व्याख्यानं यस्यां सा विवाहप्रज्ञप्तिः ॥१६॥

दृष्टिपातो द्वादशाङ्गे

"पत्लृ पथे गतौ"। पतनम् पातः। घञन्तः। दृष्टीनाम्–दर्शनानाम् पातो यत्राऽसौ दृष्टिपातः, सर्वनयदृष्टय इह आख्याप्यन्त इत्यर्थः। तथा चाह––"दृष्टिवादेन दृष्टिपातेन वा सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते" [नन्दिसूत्र पृ० २३८ सू० ५७ आगमो०] इति। द्वादशानाम् संख्यापूरणं द्वादशम्। द्वादशम् च तदङ्गम् च द्वादशाङ्गम् दृष्टिवादस्तत्र।

कल्याणेऽवन्ध्यमपि

कल्याणफलहेतुत्वात् कल्याणम्, तत्र कल्याणे–कल्याणनाम्नि एकादशे पूर्वे। अवन्ध्यफलहेतुत्वात् अवन्ध्यम्। न वन्ध्यं अवन्ध्यम् [1]सफलम् इति वा। [2]तत्र हि सर्वे ज्ञानतपःसंयमयोगाः शुभफलेन सफला वर्ण्यन्ते। अप्रशस्ताश्च प्रमादादिकाः सर्वे अशुभफला वर्ण्यन्ते, अतोऽवन्ध्यमिति।

....अथ।

निन्दा गर्हा जुगुप्सा

"णिदु कुत्सायाम्"। निन्दनम् निन्दा। "गर्हि गल्हि कुत्सने"। गर्हणम् गर्हा। उभयत्र स्त्रियाम् "क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात्" [५।३।१०६] इति अः प्रत्ययः। गर्ढि-गर्हावपि। "गुपि गोपनकुत्सनयोः"। जुगुप्सनम् जुगुप्सा। "शंसिप्रत्ययात्" [५।३।१०५] इति अः।

अथाऽऽक्षारणा रतगालिषु ॥१७॥

"क्षर सञ्चलने" णौ। आक्षारयति आक्षारणा। रते–मैथुनविषये गालयो रतगालयस्तासु, मैथुनमुद्दिश्य गालिषु इत्यर्थः। दूषणेऽपीति एके।

---

१. प्रा. प्रतौ 'सफलम्' नास्ति। २. प्रा०प्रतौ 'तत्र हि' इत्यतः प्रारभ्य 'अतोऽवन्ध्यम्' इति पाठो नोपलभ्यते।

"तत्र त्वाक्षारणा यः स्यादाक्रोशो मैथुनं प्रति" [१।६।१५] इति **अमरः** ॥१७॥

समाख्यापि समाज्ञावत्

समाख्यानम् समाख्यायतेऽनयेति वा समाख्या इति **भागुरिः** । समाज्ञायते सम्यक् आ- समन्ताद् अवसीयतेऽनयाऽसाविति समाज्ञा, कीर्त्तिः । वदर्थः प्राग्वत् सम्भावनीयः । कीर्त्तिनाम्नी ।

रुशतीवद् रिशत्यपि ।

"रुशं रिशंत् हिंसायाम्"[1] । रुशति—हिनस्ति परं रुशती हिंसा । आश्रयलिङ्गश्चायम्, तेन रुशन्शब्दो रुशद्वच्च इत्यपि । रिशति-हन्ति परम् इति रिशती । प्राग्वत् आश्रयलिङ्गः । तालव्यमध्यौ । इहापि वदर्थः प्राग्वद् भावनीयः । अशुभवचननाम्नी ।

काल्यापि कल्या

काले—कलासमूहे साधुः काल्या इति **कात्याद्याः** । कलासु साधुः कल्या । उभयत्र "तत्र साधौ" [७।१।१५] इति यः । शुभवचननाम्नी ।

सन्धायां समाधिरपि कथ्यते ॥१८॥

सन्धानम् सन्धा । "उपसर्गादातः" [५।३।११०] इति अङ् । समाधानं समाधीयते मनोऽस्मिन् वा समाधिः पुंसि । "व्याप्यादाधारे" [५।३।८८] इति किः । कथ्यते–उच्यते विद्वद्भिरिति गम्यम् । अङ्गीकारनाम्नी ॥१८॥

व्रीडः शूका मन्दाक्ष्यं च ह्रियाम्

"व्रीडच् लज्जायाम्" व्रीडयते व्रीडनम् वा व्रीडः । घञ् प्रत्ययः । पुंलिङ्गः । ऋफिडादित्वाद् लत्वे व्रीलोऽपि । "शुं गतौ" शवति शूका । "धुयुहिपितुशोर्दीर्घश्च" [उ. २४] इति कित् कः, ह्रस्वस्य दीर्घश्च । मन्दं च तद् अक्षि च मन्दाक्षम् तदेव मन्दाक्ष्यम् । भेषजादित्वाद् ट्यण् । "ह्रींक् लज्जायाम्" ह्रीयते ह्रीः । स्त्रीलिङ्गः । क्रुत्सम्पदादित्वात् क्विप् । तत्र ह्रियाम् लज्जानाम्नि ।

ऊहाऽपि चोहवत् ।

"ऊह वितर्के" ऊहनम् ऊहा । "क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात्" [५।३।१०६] इति अः । ऊहनम् ऊहति वा ऊहः । घञ् अच् वा । युक्तिगम्यस्तर्कः । वदर्थः पूर्ववद् भावनीयः ।

तन्द्रिस्तन्द्री च निद्रायाम्

"द्रांक् कुत्सितगतौ" कुत्सितगतिः पलायनम् स्वप्नश्च । इन्द्रियाणाम् तननम् द्राति अस्यां तन्द्रिः । "नाम्युपान्त्य०" [उ. ६०९] इति कित् 'इ' प्रत्यये पृषोदरा-

---

१. जे. सिंहायाम् ।

दित्वात् साधुः। "तन्द्रिः सादनमोहनयोः" सौत्रः। तन्द्रयते वा तन्द्रिः। पदि-पठिपच्चि०" [उ. ६०७] इति आदिशब्दाद् इः। [[1]तन्द्रा आलस्ये आदन्तः। तन्द्राति अनया अस्यां वा। "नाम्युपान्त्य०" [उ. ६०९] इति बहुवचनात् कित् इः][1] "तृस्तृ-तन्द्रितन्त्र्यविभ्य ईः "[उ. ७११] इति 'ई' प्रत्यये तन्द्रीः ईकारान्तोऽयम्। तन्द्रीत्यपि। नियतम् द्रान्ति इन्द्रियाणि अस्यां निद्रा तस्याम्।

अहम्प्रथमिकाऽपि च ॥१९॥

अहम्पूर्विकायाम् ।

अहम् प्रथमम् अहंप्रथम इति। अहं प्रथमम् इत्यस्यां अहंप्रथमिका। अहम् पूर्वम् अहंपूर्व इति। अहम् पूर्वं इति यस्यां सा अहंपूर्विका। मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषसमासे निपात्यते। निपातनाद् अकन्यपि वृद्ध्यभावः। अहमिति शब्दो विभक्त्यन्तप्रतिरूपको निपातः। एवं अहमग्रिका अपि। यदाह **गौडः**—

अहं पूर्वः अहंपूर्व इत्यहंपूर्विका स्त्रियाम्।
आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात् सम्भावनात्मनि॥
अहमहमिका तु स्यात् परस्परमहंकृतिः।

इति।

केलिकिलोऽपि स्याद् विदूषके।

केल्या—क्रीडया किलति केलीकिलः। "किलत् श्वैत्यक्रीडनयोः" सन्धि विग्रहेण विग्रहम् च सन्धिना दूषयति विदूषकः—भाण्डः,[2] तत्र।

मार्षवन्मारिषोऽपि।

मर्षणात्—सहनात् मार्षः। मृणाति मारिषः। "अमिमॄभ्यां णित्" [उ.-५४९] इति इषः। पर्षत्, परिषत् इत्यादिवद् वा। आर्यनाम्नी।

इति शिलोञ्छो देवकाण्डगः ॥ २० ॥

इति अमुना प्रकारेण, यद् वा इतिशब्दः समाप्त्यर्थस्तेन देवकाण्डम् गच्छति देवकाण्डगः— देवकाण्डानुगतः शिलोञ्छः समाप्तः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीय[3]श्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्तानीय—
वाचनाचार्यश्रीभानुमेरुगणिशिष्यमुख्यश्रीज्ञानविमलो—
पाध्यायविनेयवाचनाचार्यश्रीवल्लभगणि—
विरचितायां श्रीहैमनाममालाशिलोञ्छ—
टीकायां द्वितीयदेवकाण्डस्य
शिलोञ्छः समाप्तः।

१—१ प्रा० प्रतौ 'तन्द्रा आलस्ये' इत्यतः आरभ्य 'बहुवचनात् कित् इः' इतिपर्यन्तः पाठो नोपलभ्यते। २. जे. ज. भण्डः। ३. जे. श्रीजयसागरोपाध्याय°।

तृतीयो मर्त्यकाण्डः

अथ तृतीयमर्त्यकाण्डस्य शिलोञ्छो वित्रियते—

स्तनन्धये स्तनपश्च क्षीरपश्चाऽभिधीयते ।

"ट्धें पाने" स्तनौ धयति स्तनन्धयो बालस्तत्र ।

"शुनीस्तनमुञ्जकूलाऽऽस्यपुष्पात् ट्धेः" [५ ।१ ।११९] इति खश् । स्तनौ पिबति स्तनपः । " स्थापास्नात्रः कः" [५ । १ । १४२] इति कः । क्षीरम्—दुग्धम् पिबति क्षीरपः । "स्थापा०" [५ । १ । १४२] इति कः । अभिधीयते—कथ्यते पण्डितैरिति गम्यम् ।

तारुण्यं स्याद् यौवनिका ।

तरुणस्य भावः कर्म वा तारुण्यम् । यूनो भावो यौवनिका । स्त्रीपुंसलिङ्गः । "चौरादेः" [७ । १ । ७३] इति अकञ् । "यूनोऽके" [७ । ४ । ५०] इत्यनेन अके प्रत्यये परे सति युवन्शब्दस्य अन्त्यस्वरादेर्लुगभावः । युवत्वम् युवता च ।

दशमीस्थो जरत्तरः ॥२१॥

दशम्याम् अवस्थायां तिष्ठतीति दशमीस्थः । "स्थापास्नात्रः कः" [५ । १ । १४२] इति कः । यदाह **भागुरिः** ।

इष्टो वयोदशोपेतः पञ्चमी सप्तमीति च ।
प्रवया दशमीस्थः स्यात् । इति ।

जरन्नेव जरत्तरः । "क्वचित् स्वार्थे" [७ । ३ । ७] इति तरप् ॥२१॥

कविताऽपि कविः स्यात् ।

"कवृङ् वरणे" कवते कौति वा इत्येवंशीलः कविता । "तृन् शीलधर्मसाधुषु" [५ । २ । २७] इति तृन् । कवते कौति वा कविः । " कुङ् शब्दे" "स्वरेभ्य: इः" [उ. ६०६] इति इः । शुचिः, कृष्टिः, किकिः, पठिः, हुण्डिः, रपठो, मन्ता धीवा, बुधानः च ।

कृतकर्मणि कृतकृत्यकृतिकृतार्थाश्च ।

कृतं कर्माऽनेन कृतकर्मा—प्रवीणस्तत्र । कृतम् कृत्यम्—कार्यम्—अनेन कृतकृत्यः । प्रशस्तं कृतम्—कर्म—अस्य कृती । कृतोऽर्थोऽनेन कृतार्थः । सूक्ष्मः, दभ्रः दक्षार्यः निचाकुः च ।

कुटिलाशयोऽपि कुचरः ।

कुटिल आशयोऽभिप्रायोऽस्य कुटिलाशयः । कुत्सितम् चरति कुचरः । कद्वदनाम्नी ।

अन्धजडशठेऽनेडमूकः स्यात् ॥२२॥

अमति-गच्छति अनेनेति अन्धः। "स्कन्द्यमिभ्यां धः" [उ. २५१] इति धः। जलति न तीक्ष्णो भवति, डलयोरैक्ये जडः। "शमूच् उपशमे" शाम्यति शठः। "शमेर्लुक् च वा" [उ.१६५] इति ठः, लुक् चान्तस्य। शठ कैतवे च शठति वा शठो धूर्तः। अन्धश्च जडश्च शठश्च अन्धजडशठं तस्मिन् अन्धजडशठे। समाहारद्वन्द्वत्वाद् एकवद्भावः। अनेडोऽपि अवर्करोऽपि मूकोऽनेडमूकः। "अन्धो ह्यनेडमूकः स्यात्" [का. २। प. ४५३. ६०९] इति **हलायुधः**। "अनेडमूकस्तु जडः" [ ]इति **वैजयन्ती**। "शठो ह्यनेडमूकः स्यात्" [ ]इति **भागुरिः**। जडे मुदेर-बठर-गृहोल-हुड-होडा अपि। शठे कुटेरः[1], जहकः, मङ्क्रिश्च ॥२२॥

वदान्यौ पृथगित्यन्ये दानशीलप्रियंवदौ।

वदतः प्रियं ददानौ वदान्यौ "वदिसहिभ्यामान्यः" [उ.३८१] इति आन्यः। पृथग् इति भिन्नार्थौ। दाने शीलम्—स्वभावोऽस्य दानशीलः। प्रियं वदति प्रियंवदः। द्वन्द्वसमासे दानशीलप्रियम्वदौ। यदाह **भागुरिः**—

"शक्लो वदान्यः प्रियवाक् वदान्यो दानशीलकः"। [ ]इति।

प्रियंवदे लोकयुः, हर्षयित्नुः, शफः मन्द्रः, मन्तुः च।

मूर्खौ यथोद्गतोऽपि

मुह्यति कार्ये मूर्खः, "पूमुहोः पुन्मूरौ च" [उ.८६] इति खः। मुहो 'मूः' इत्यादेशश्च। यथैव उद्गतो जातस्तथैव स्थितः असंस्कृतत्वादिति यथोद्गतः।

इभ्यः श्रीमानपि बुधैः स्मृतः ॥२३॥

इभम् हस्तिनम् अर्हति इभ्यः। "दण्डादेर्यः" [६।४।१७८] इति यः। श्रीः—लक्ष्मीर्विद्यतेऽस्य श्रीमान्। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः।" [७।२।१] इति मतुः। बुधैः— पण्डितैः स्मृतः — कथितः। दधाति श्रियम् इति "स्फुलिकलिपल्यादभ्य इङ्गक्" [उ. १०२] इति इङ्गकि प्रत्यये धिङ्गोऽपि ॥२३॥

विवधिक-वीवधिकावपि वैवधिके

विवधेन वीवधेन च भारेण पर्याहारेण वा हरति विवधिकः, वीवधिकः। पक्षे वैवधिकः। "विवधवीवधाद्वा" [६।४।२५] इति इकट्-इकणौ प्रत्ययौ। अन्नाद्यर्थं यो भारं वहति तन्नामानि। लोके यस्य "अधोवाहिक" इति प्रसिद्धिः। स्त्रियाम् तु विवधिकी, वीवधिकी, वैवधिकी इति।

---

१. जे. कुठेरः।

प्रतिचरोऽपि भृत्ये स्यात्

प्रतिचरति प्रतिचरः । 'प्रति' इति आभिमुख्ये । भरणीयो भृत्यः । "भृगोऽसंज्ञायाम्" [५।१।४५] इति क्यप् । तत्र भृत्ये—किङ्करे ।

सम्मार्जको बहुकरे बहुधान्यार्जक इति प्राहुः ॥२४॥

"मृजौक् शुद्धौ" समन्तात् सम्यक्प्रकारेण वा मार्ष्टि सम्मार्जकः । "नाम्नि पुंसि च" [५।३।१२१] इति णकः । बहुधान्यम् अर्जयति-संस्करोति बहुधान्यार्जकः। "नाम्नि पुंसि च" [५।३।१२१] इति णकः । बहु करोति बहुकरस्तत्र । इति प्राहुः—कथयन्ति पण्डिता इति गम्यम् ॥२४॥

विहङ्गिकायां च विहङ्गमाऽपि,

विहङ्गप्रतिकृतिश्चर्मादिमयी विहङ्गिका । "तस्य तुल्ये कः०" [७।१।१०८] इति कः । या भित्त्यादौ लम्बमाना स्थाप्यते, प्रयाणके च संधार्यते भारोद्वहनाय यष्टिः, चतुर्दण्डिका इति सभ्याः ।

"शिक्याधारः स्कन्धग्राह्यो लगुडः" [ ] इति **द्रमिलाः** ।

विहायसा गच्छति विहङ्गमा । "नाम्नो गमः खड्डौ च विहायसस्तु विहः" [५।१।१३१] इति खः । विहङ्गमप्रतिकृतित्वाद् वा विहङ्गमा ।

अथौर्ध्वदेहिके ।

और्ध्वदैहिकमप्याहुः

ऊर्ध्वं देहाद् भवं और्ध्वदेहिकं । मृतस्य दिवसे तमुद्दिश्य दानम्-पिण्डोदकादि । अध्यात्मादित्वाद् इकण् । तस्मिन् और्ध्वदेहिके अनुशतिकादिपाठमताश्रयणाद् उभयपदवृद्धौ और्ध्वदैहिकम् ।

अनृजुः शण्ठ इत्यपि ॥२५॥

न ऋजुः अनृजुः । "शमूच् उपशमे" शाम्यति शण्ठः । "शमेर्ढक् च वा" [उ. १६५] इति ठः । विकल्पेन मकारलोपपक्षे शठोऽपि ॥२५॥

मायावि—मायिकौ धूर्ते

माया विद्यतेऽस्य मायावी। "अस्तपोमायामेधास्रजो विन्" [७।२।४७] इति विन् । मायाऽस्यास्तीति मायिकः । "व्रीह्यादिभ्यस्तौ" [७।२।५] इति 'इक' प्रत्ययः । मायावान् अपि । धूर्वति—हिनस्ति धूर्तः वञ्चकस्तत्र । "शीरी०" [उ. २०१] इति कित् तः ।

कपटे तूपधा मता ।

कम्पयति अनेन कपटम्, पुंक्लीबलिङ्गस्तत्र । "कपटकीकटादयः" [उ. १४४] इति अटे निपात्यते । उपधीयते स्फटिकस्य इव सिन्दूरम् इति उपधा । "उपसर्गादातः" [५।३।११०] इति अङ् ।

चोरश्चौरोऽपि विज्ञेयः

"चुरण् स्तेये" चोरयति चोरः । अच् । चुराशीलो वा । छत्रादित्वाद् अङ् । "चर भक्षणे च, चकाराद् गतौ" चरति वा चोरः । "कोरचोरमोर०" [उ.४३४] इति ओरे निपात्यते । प्रज्ञाद्यणि, चौरः । विज्ञेयः—ज्ञातव्यः ।

स्तेयं स्तैन्यमपीष्यते ॥२६॥

स्तेनस्य—चोरस्य भावः स्तेयम् । "स्तेनान्नलुक् च" [७।१।६४] इति यः । राजादित्वाद् व्यणि स्तैन्यम् । स्तेनत्वम् स्तेनता च इष्यते—वाञ्छ्यते ॥२६॥

दाने प्रादेशनमपि

"दिशींत् अतिसर्जने" प्रादिश्यते प्रादेशनम् । "अनट्" [५।३।१२४] इत्यनट् । दीयते दानं त्यागस्तत्र । "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट् ।

क्षमा स्यात् क्षान्तिरित्यपि ।

"क्षमौषि सहने" क्षमणम् क्षमा, क्षम्यते वा । "षितोऽङ्" [५।३।१०७] इति अङ् । "क्षमौच् सहने" इत्यस्य "स्त्रियां क्तिः" [५।३।९१] इति क्तौ क्षान्तिः ।

क्रोधनः कोपनः

"क्रुधंच् कोपे" क्रुध्यति क्रोधनः । "भूषाक्रोधार्थ०" [५।२।४२] इति अनः । "कुपच् क्रोधे" कोपशीलः कोपनः, कुप्यति वा । "भूषाक्रोधार्थ०" [५।२।४२] इति अनः ।

तृष्णक् पिपासितोऽपि कथ्यते ॥२७॥

'तृषंच् पिपासायाम्" तृष्यति इत्येवंशीलः तृष्णक् । "तृषिधृषिस्वपो नजिङ्" [५।२।८०] इति नजिङ् । पिपासा जाता अस्य पिपासितः । तर्षः सञ्जातोऽस्येति तर्षितोऽपि । तारकादित्वाद् इतः । कथ्यते उच्यते ॥२७॥

भक्षकः स्यादाशिरोऽपि

"भक्षण् अदने" भक्षयति भक्षकः । अश्नाति अत्ति आशिरः । "अशेर्णित्" [उ. ४१५] इति इरः ।

मार्जिता चापि मर्जिता ।

"मृजौण्. शौचालङ्कारयोः" मार्ज्यते मार्जिता । दधिसितामरिचादिकृतं रसालाख्यम् लेह्यम् । यत् सूदशास्त्रम्—

"अर्द्धाढकं सुचिरपर्युषितस्य दध्नः खण्डस्य षोडशपलानि शशिप्रभस्य ।
सर्पिःपलं मधुपलं मरिचार्द्धकर्षं, शुण्ठ्याः पलार्द्धमथवार्द्धपलं चतुर्णाम् ॥१॥
श्लक्ष्णे पटे ललनया मृदुपाणि घृष्टा, कर्पूरधूलिसुरभीकृतभाण्डसंस्था ।
एषा वृकोदरकृता सरसा रसाला, या स्वादिता भगवता मधुसूदनेन" ॥२॥

"सेट्क्तयोः" [४।३।८४] इति णेर्लुक् । "मृजौक् शुद्धौ" इत्यस्य तु औदित्वाद् वेट् । मार्जिता । "मर्च मर्जण् शब्दे" मर्ज्यते मर्जिता । "मृजौण् शौचालङ्कारयोः" इत्यस्य तु रूढेः । शिखरिणीनाम्नी ।

पेयूषमपि पीयूषम्

"पां पाने" पीयते पेयूषम् । "कोरदूषाटरूष०" [उ. ५६१] इति ऊषे निपात्यते । "पीयि प्रीणने" सौत्रः । पीयते पीयूषम् । खलिफलिवृपृकृजूलम्बिमञ्जिपीयि०" [उ. ५६०] इति ऊषः । नवीनदुग्धनाम्नी ।

कूचिकाऽपि च कूर्चिका ॥२८॥

"कुङ् शब्दे" कूयते कूची । "कुपूसमिण्भ्यश्चट् दीर्घश्च" [उ.११२] इति 'चट्' प्रत्ययो दीर्घश्च । स्वार्थिके के कूचिका । यद् वा "कूच् उद्भेदने" कूचति कूचिका । "नाम्नि पुंसि च" [५ । ३ । १२१] इति णकः । कुञ्चिका इत्यपि । "कूची" इति एके पेठुः । कूर्च[1]: क्षीरमस्तु स विद्यते अस्याः कूर्चिका—विनष्टदुग्धं "फेंदरी" इति हि प्रसिद्धिः—"अतोऽनेकस्वरात्" [७ । २ । ६] इति इकः ॥२८॥

द्रप्से द्रप्स्यमपि प्रोक्तम्

"दृपौच् हर्षमोहनयोः" दृप्यतेऽनेन द्रप्सम्, दध्यग्रम् ।

यन्माला—

"द्रप्सं दध्यघनं तथा" । [ ]

"मावावद्यमिकमि०" [उ. ५६४] इति बहुवचनात् सः । तत्र दृप्यते द्रप्स्यम् । "शिक्यास्याढ्यमध्यविन्ध्यधिष्ण्य०" [उ. ३६४] इति ये प्रत्यये निपात्यते । तत उभयत्र "स्पृशादिसृपो वा" [४ । ४ । ११२] इत्यनेनाऽकारागमः । द्रप्समेव वा द्रप्स्यम् । भेषजादित्वात् ट्यण् । प्रोक्तम्—कथितम् विद्वद्भिरिति गम्यम् । एतच्च—

---

१ प्रा. °र्चः किलाटीमस्तु ।

"द्रप्सं सरम्" इति आदिदन्त्यं मालाकारः प्राह ।
"सरो दध्यग्रबाणयोः" [ ] इति च विश्वः ।
भागुरिस्तु–तालव्यादिं शरं प्राह ।
यदाह दुर्गः–"बाणद्रप्सौ शरौ" इति ।

विजिपिलं च पिच्छिले ।

विजति चलति विजिपिलम् । "स्थण्डिलकपिल०" [उ.४८४] इति इलान्तो निपात्यते । पिच्छा आचामोऽस्याऽस्ति पिच्छिलम् । "लोमपिच्छादेः शेलम्" [७ । २ ।२८] इति इलः । तत्र ।

व्योषे त्रिकटुकम्

विशेषेण ओषति दहति व्योषम् , तत्र । त्रीणि कटूनि शुण्ठीमरिचपिप्पल्याख्यानि समाहृतानि त्रिकटु । स्वार्थिके के प्रत्यये त्रिकटुकम् । यदाह—

"महौषधं च मरिचं कणावैकीकृतं किल ।
व्यूषणं कथ्यते तज्ज्ञैस्त्रिकटु व्योषकं तथा" ॥ [ ]

जग्धौ जमनं जवनं तथा ॥२९॥

अदनम् जग्धिः । "स्त्रियां क्तिः" [५ । ३ । ९१] इति क्तिः "यपि चाऽदो जग्ध्" [४।४।१६] इति 'जग्ध्' आदेशः । तत्र । "चमू छमू जमू झमू जिमू अदने" "जम्यते जमनम् । "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट् । "जु गतौ" सौत्रो धातुः । जूयते क्षुधया जवनम् । यद् दुर्गः—

"जवनं भोजनं क्वचित्" । [ ]

चमनम् अपि ॥२९॥

आघ्राणोऽपि भवेत् तृप्तः,

"घ्रैं तृप्तौ" आघ्रायति स्म आघ्राणः । "ऋह्रीघ्राघ्रा०" [४।२।७६] इति क्तयोः तस्य वा नत्वम् । तृप्यति तृप्तः । "तृपौच् प्रीतौ" वेट्त्वात् क्तयोर्नेट् ।

शौष्कलः पिशिताशिनि ।

शुष्कम् मांसम् लाति शुष्कलः, स एव शौष्कलः । प्रज्ञादित्वाद् अण् । पिशितम् मांसम् अश्नातीत्येवंशीलः पिशिताशी तस्मिन् पिशिताशिनि मांसभक्षके ।

मनोराज्यमनोगव्यावपि स्यातां मनोरथे ॥३०॥

मनसो राज्यं यत्र मनोराज्यम् । मनश्च तद् गौश्च मनोगवी । "विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च" [३।१।९६] इति कर्मधारयः, ततो 'गोस्तत्पुरुषात्'

[७।३।१०५] इति 'अट्'समासान्तः। मनसो गौरिति वा, दूरगामित्वात्। उभावपि स्यातामू-भवेताम्। मन एव रथो दूरगामित्वात् यत्र स मनोरथः, तत्र ॥३०॥

कामुके कमनोऽपि स्यात्

कमनशीलः कामुकः। "शृकमगमहनवृषभूस्थ उकण्" [५।२।४०] इति उकण्। तत्र। कामयते कमनः। "कमूङ् कान्तौ" "रम्यादिभ्यः कर्तरि" [५।३।१२६] इति अनट्। स्यात्-भवेत्।

आक्षारितोऽपि दूषिते।

आ-समन्तात् क्षार्यते स्वरूपात् चाल्यते स्म इति आक्षारितः। अलीकोत्पन्न-पातकस्य व्यपदेशः। दूष्यते स्म दूषितः। "मैथुनम् प्रति" इति एके। तत्र।

संशयालुः सांशयिके

संशयनशीलः संशयालुः। "शीङ्श्रद्धानिद्रातन्द्रादयि०" [५।२।३७] इति आलुः। संशयं प्राप्तः सांशयिकः। "संशयं प्राप्ते ज्ञेये" [६।४।९३] इति इकण्। तत्र।

जागरिताऽपि जागरी ॥३१॥

जागर्तीत्येवंशीलो जागरिता। "तृन् शीलधर्मसाधुषु" [५।२।२७] इति तृन्। जागरो जागरणम् अस्त्यस्य जागरी-जागरूकः ॥३१॥

पूजितोऽपचायितोऽपि

पूज्यते पूजितः। अपचाय्यते अपचायितः। "अपचितः" [४।४।७७] इति क्ते निपात्यते। चिनोतेर्हि पूजार्थो नास्तीतीदं निपातनात्। अर्चितोऽपि।

तुन्दिभोदरिकावपि।

तुन्दिलः

तुन्दिः उदरम् अस्यास्ति तुन्दिभः। इति **अमरः**। "तुन्दिवलिवटेर्भः" [पा. ४।२।१३९] इति **पाणिनीयसूत्रेण** भः प्रत्ययः। तुन्दवान् अपि। उदरम् अस्यास्ति उदरिकः। "व्रीह्यर्थतुन्दादेरिलश्च" [७।२।९] इति इकः। उदरवान् अपि। तुन्दम् अस्यास्ति तुन्दिलः। "व्रीह्यर्थतुन्दादेरिलश्च" [७।२।९] इति इलः। बृहत्कुक्षि-नामानि।

न्युब्जोऽपि कुब्जे

"उब्जत् आर्जवे नीतिक्षेपार्थे" न्युब्जति न्युब्जः। "अच्" [५।१।४९] इति अच्। न्युब्जनम् न्युब्जः। घञ्। न्युब्जेन पाणिगतेन भुग्नत्वेन योगाद् वा न्युब्जः पुमान्। **यत् शाश्वतः—**

"विद्यादधोगतं न्युब्जं न्युब्जकुब्ज उदाहृतः" । [ ]

कूयते कुब्जः वक्रानताङ्गः । "कुवः कुब्कुनौ च" (उ. १२९) इति 'जक्' प्रत्ययः । कुत्सित उब्ज इति वा । पृषोदरादित्वात् साधुः । तत्र ।

खलतोऽप्यैन्द्रलुप्तिके ॥३२॥

"खल सञ्चये च, चकाराच्चलने" खलन्ति केशाः अस्मादिति खलतः । भीमादित्वाद् अपादाने "दृपृभृमृशीयजिखलिवलि०" [उ.२०७] इति 'अतः' प्रत्ययः । इन्द्रलुप्तम् केशघ्नम् तेन चरति ऐन्द्रलुप्तिकः । "चरति" [६।४।११] इति इकण् । । तत्र । खल्वाटनाम्नी ॥३२॥

पामरोऽपि कच्छुरः

पामा अस्त्यस्य पामरः । "मध्वादिभ्यो रः" [७।२।२६] इति मत्वर्थे रः । पाति कण्डूम् इति वा । "जठरक्रकर०" [उ. ४०३] इति अरे निपात्यते । कच्छूः अस्त्यस्य कच्छुरः । "कच्छ्वा डुरः" [७।२।३९।] ति डुरः । पामवान् कच्छूमान् च ।

अतीसारक्यप्यतिसारकी ।

अतीसारो विद्यतेऽस्य अतीसारकी । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाद् इति अतिसारकी । "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" [३।२।८६] इति वा दीर्घः । उभयत्र "वाताऽतीसारपिशाचात् कश्चान्तः" [७।२।६१] इति 'इन्' कश्चान्तो भवति ।

कण्डूतिरपि खर्जूः स्यात्

"कण्डूञ् गात्रकर्षणे" कण्डूय्यते गात्रम् अनयेति कण्डूतिः । "स्त्रियां क्तिः" [५।३।९१] इति क्तिः । खर्जति व्यथते खर्जूः । स्त्रीलिङ्गः । "कृषिचमि०" [उ.८२९] इति ऊः ।

विस्फोटः पिटके स्मृतः ॥३३॥

"स्फट स्फुट्ट विशरणे" विस्फोटनम् विस्फोटति पादोऽनेन वा विस्फोटः । "व्यञ्जनाद् घञ् [५।३।१३२] इति घञ् । पेटति संश्लिष्यति पिटकः । त्रिलिङ्गः । "छिदिभिदिपिटेर्वा" [उ. ३०] इति किद् 'अकः' । क्षुद्रस्फोटकनाम्नी ॥३३॥

कोठो मण्डलकमपि

"कुठिः सौत्रः" कोठयति अङ्गं कोठः, कुण्ठयति अङ्गम् इति वा । "पण्ठैधिंठादयः"[उ.१६६] इति निपात्यते । मण्डलाकृतित्वाद मण्डलम् । स्वार्थिके के, मण्डलकम् । मण्डलप्रतिकृतिः इति वा मण्डलकम्, तदाकारसदृशत्वात् । "तस्य तुल्ये कः संज्ञाप्रतिकृत्योः" [७।१।१०८] इति कः ।

गुदकीलोऽपि चार्शसि ।

गुदस्य कीलः गुदकील इव गुदकीलः, गुदम् कीलति वा । इयर्त्ति पीडाम् अनेन अर्शः । क्लीबलिङ्गः । "अर्तेरुराशौ च" [उ.९६७] इति 'अस्' प्रत्ययः अर्श इति तालव्यशकारान्तादेशः । गुदतुद् अपि ।

मेहः प्रमेहवत्

मेहयति मूत्रयति अनेन मेहः । प्रमेहयति प्रमेहः बहुमूत्रता ।

आयुर्वेदिकोऽपि चिकित्सके ॥३४॥

"विदक् ज्ञाने" आयुर्विद्यते अनेन आयुर्वेदः—शास्त्रम् । "व्यञ्जनाद् घञ्" [५।३।१३२] इति घञ् । आयुर्वेदं वेत्ति अधीते वा आयुर्वेदिकः । "न्यायादेः" [६।२।११८] इति इकण् । यद् वा, आयुर्वेदः अस्याऽस्तीति आयुर्वेदी । [1]आयुर्वेत्ति इत्येवंशीलो वा आयुर्वेदी[1] । स्वार्थिके के, आयुर्वेदिकः । चिकित्सति चिकित्सको वैद्यस्तत्र । जैवातृक-भिषज-भिषणजा अपि ॥३४॥

आयुष्मानपि दीर्घायुः कथ्यते

आयुर्विद्यते अस्य आयुष्मान् । दीर्घम् आयुः अस्य दीर्घायुः । कथ्यते—उच्यते । जीवन्त-जीवरौ अपि ।

ऽथ परीक्षकः ।

स्यादाक्षपाटलिकोऽपि

परीक्षते परीक्षकः । मठादौ दानार्थं ब्राह्मणपरीक्षिता । अक्षपटलैः व्यवहारसमूहैश्चरतीति आक्षपाटलिकः । "चरति" [६।४।११] इति इकण् । अक्षपटलैः दीव्यतीति वा । "तेन जितजयद्दीव्यत्खनत्सु" [६।४।२] इति दीव्यति अर्थे इकण् प्रत्ययः । अनुशतिकादित्वात् उभयपदवृद्धिः ।

पारिषद्योऽपि सभ्यवत् ॥३५॥

परिषदि साधुः पारिषद्यः । "पर्षदो[2] ण्यणौ" [७।१।१८] इति ण्यः । पारिषदपार्षदौ अपि । परिषदम् समवैति पारिषद्यः । "पर्षदो ण्यः" [६।४।४७] इति परिषद्—शब्दाद् द्वितीयान्तात् समवैति समवेतेऽर्थे ण्यः प्रत्ययः इति वा । सभायां साधुः सभ्यः । "तत्र साधौ" [७।१।१५] इति यः । यथा सभ्यशब्दः सदस्ये वर्तते तथा पारिषद्योऽपीति ॥३५॥

१-१ जे. प्रतौ पाठो नास्ति । २ एतत् सूत्रम् 'परिषत्' शब्दे कथं प्रवर्तते ? इति विचारणीयम् ।

स्युर्नैमित्तिकनैमित्तमौहूर्त्ता गणके

निमित्तम् वेत्ति नैमित्तिकः । "न्यायादेः०" [६।२।११८] इति इकण् । निमित्तम्[1] मुहूर्त्तम् [2]च वेत्ति नैमित्तः मौहूर्त्तः[2] । "तद्वेत्त्यधीते" [६।२।११७] इत्यनेन उभयत्र 'अण्' प्रत्ययः । गणयति गणकः ज्योतिषिकः, तत्र ।

लिपौ ।

लिखिताऽपि

लिप्यते पत्रम् अनयेति लिपिः । स्त्रीलिङ्गः । "नाम्युपान्त्य०" [उ.६०९] इति किः । तत्र । लिख्यते पत्रम् अनयेति लिखिता । "कृशिपिपिशिपृषि०" [उ.२१२] इत्यादिबहुवचनात् किद् 'इतः' । क्तप्रत्ययो वा । लिखिरपि ।

मषी मेला

मषति हिनस्ति औज्ज्वल्यम् मषिः । "पदिपठिपचि०" [उ.६०७] इति 'इः' ङ्याम्, मषी । मेल्यते अनया मेलनम् वा मेला । "भीषिभूषिचिन्तिपूजि०" [५।३।१०९] इति बहुवचनाद् अङ् । यद् गौडः–

"मेला स्त्री मेलके मशौ, पत्राञ्जनमपि" । [ ]

"मसिः पत्राञ्जनं मेला" [ ] इति हारावली ।

प्रस्तावात् मेलानन्दा मसिमणिः इति मषीभाजननाम्नी अपि ज्ञेये । [3][वार्दलोऽपि । यदाह—

"क्लीबं दुर्दिवसे मेलानन्दायामपि वार्दलः" [ ] इति ।][3]

कुलिके कुलकोऽपि च ॥३६॥

कुलम् अस्त्यस्य कुलिकः । "अतोऽनेकस्वरात्" [७।२।६] इति इकः । तत्र । "कुल बन्धुसंस्त्यानयोः" कोलति कुलकः । "धुधून्दिरुचितिलिपुलिकुलि०" [उ.२९] इति किद् अकः । कुलम् कायतीति वा । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । इति क्षीरस्वामी । कुलश्रेष्ठिनाम्नी ॥३६॥

अष्टापदे बुधैः शारिफलकोऽपि निगद्यते ।

अष्टौ पदानि अत्र अष्टापदः । "नाम्नि" [३।२।७५] इति दीर्घत्वम् । तत्र । शारयः फलन्ति अत्र शारिफलम्, खेलनाधारश्चतुरङ्गफलकादिः । शारीणाम् फलम् इति

१ जे. मुहूर्त्तः । २–२ च वेत्ति नैमित्तः मौहूर्त्तः । जे. प्रतौ नास्ति पाठः ।
३–३ [ ] चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति प्रा. प्रतौ ।

वा शारिफलम् , के शारिफलकः। शारीणाम् फलक इति वा। पुंक्लीबलिङ्गः। बुधैः-पण्डितैः निगद्यते—कथ्यते।

मनोजवस्ताततुल्ये

"जु गतौ" सौत्रः। मनो जवतेऽस्मिन् पिता असौ इति धावति मनोजवः। मनोजे अभिलाषे वसतीति वा "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः। ताततुल्यः पितृसदृशः, तत्र। यदाह **व्याडिः**—

"जनः पितृसधर्मा यः स ताताहों मनोजवः।" [ ] इति।

प्रभविष्णुरपि क्षमे ॥३७॥

प्रभवति इत्येवंशीलः प्रभविष्णुः। "भ्राज्यलंकृग्निराकृग्भूसहि०" [५।२।२८] इति इष्णुः प्रत्ययः। क्षमते सहते क्षमः समर्थः, तत्र ॥३७॥

जाङ्घिके जाङ्घाकरोऽपि च

जङ्घाभ्याम् जीवति जाङ्घिकः, तत्र। वेतनादित्वात् इकण्। जङ्घा एव करो राजदेयोऽस्त्यस्य जङ्घाकरः। जङ्घाभ्याम् आजीविकाम् करोतीति वा जङ्घाकरः। स्वार्थे अणि, जाङ्घाकरः[1]। लोके यस्य "कासीद" इति प्रसिद्धिस्तन्नाम।

अनुगोऽप्यनुगामिनि।

अनुगच्छतीति अनुगः। "नाम्नो गमः खड्डौ च०" [५।१।१३१] इति डः। अनुगच्छति इत्येवंशीलः अनुगामी सेवकः, तत्र। 'अजातेः शीले" [५।१।१५४] इति णिन्। श्लिकु-लिगु-वराट-पदपदा अपि।

पर्येषणोपासनापि शुश्रूषायामधीयते ॥३८॥

"इषच् गतौ" पर्येषणम् पर्येषणा। "पर्यधेर्वा" [५।३।११३] इति अने साधुः। उपासनम् उपासना। "णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः" [५।३।१११] इति अनः। "श्रुट् श्रवणे," "गतौ" इत्यन्ये। शुश्रूषणम् शुश्रूषा तस्याम्। "शंसि प्रत्ययात्" [५।३।१०५] इति अः। अभिधीयते—कथ्यते बुधैरिति गम्यम्। निषेवणम् अपि ॥३८॥

आतिथ्योऽप्यतिथौ

अतति सततम् गच्छति आतिथ्यः। "शिक्यास्याढ्यमध्यविन्ध्य०" [उ.३६४] इति यान्तो निपात्यते। अतिथिरेव वा। "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" [७।२।१६४] इति स्वार्थे ट्यण्। "आतिथ्योऽतिथिरागन्तुः" [ ]इति **माला**। अतति—सततं

1. जे. प्रतौ– 'स्वार्थे अणि, जाङ्घाकरः, इति पाठो नास्ति।

गच्छति अतिथिः । "अतेरिथिः"[उ.६७२] इति इथिः । नास्ति तिथिः अस्येति वा अतिथिः प्राघूर्णकः तत्र ।

"तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना ।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ।" [ ]इति **वचनप्रामाण्यात्** ।
"अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः" [ ]इति च **स्मृतिः** । स्त्रियां च 'अतिथि' इत्याहुः ।

कुल्येऽभिजः

कुलस्याऽपत्यं कुल्यः । "यैयकञावसमासे वा" [६।१।९७] इति यः । अभिजातोऽभिजः । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । कुलीननाम्नी ।

गोत्रं तु सन्ततिः ।

गूयते कथ्यतेऽनेन गोत्रम्, अन्वयः । "हुयाभा०"[उ.४५१] इति त्रः । सन्तन्यते सन्ततिः । "स्त्रियां क्तिः" [५।३।९१] इति क्तिः ।

महेला योषिता च स्त्री

"मह पूजायाम्" मह्यते महेला । "महेरेलः" [उ.४९२] इति एलः । "युष भजने" सौत्रः । योषति पुरुषम् योषित् । "हृसृरुहियुषि०" [उ.८८७] इति इत् प्रत्ययः । अजादित्वाद् आपि....योषिता । "जुष परितर्कणे" "जोषयतीति जोषा"[ ] इति **चन्द्रेण** चवर्गादिरुक्तः । स्तृणाति धर्मम्, स्त्यायति अस्यां गर्भ इति वा स्त्री । "स्त्री स्यतेः०" [उ.९१५] इति त्रट् प्रत्ययः ।

तरुणी युवतीत्यपि ॥३९॥

तरति कौमारम् वयः तरुणी । "यम्यजि०" [उ.२८८] इति उनः । "वयस्यनन्त्ये" [२।४।२१] इति ङीः । "युंक् मिश्रणे" यौति युवती । "योः कित्" [उ.६५८] इति अतिः । "इतोऽक्त्यर्थात्" [२।४।३२] इति वा ङीः ॥३९॥

स्ववासिनी चरिण्टी च चिरिण्टी च चरण्ट्यपि ।

वधूट्याम्

स्वस्मिन् आत्मनि वसति इत्येवंशीला स्ववासिनी इति **द्रमिलाः** । "चिरिः सौत्रः स्वादिः" । चिरिणोति चरिण्टी चिरिण्टी च । "हिण्टश्चर् च वा" [उ.१५०] इति चिरेः डित् इण्टः प्रत्ययः, चर् इत्यादेशोऽस्य वा भवति । चरति आत्मनि चरण्टी । "कपटकीकटादयः" [उ.१४४] इति अटे निपात्यते । सर्वत्र "वयस्यनन्त्ये" [२।४।२१] इति ङीः । बध्नाति कटाक्षैर्वधूटी । "बन्धेः" [उ.१५७] इति कित् ऊटः । उह्यते वा वधूः । "वहेर्ध् च" [उ.८३२] इति । "वहीं प्रापणे" इत्यस्माद्

ऊः प्रत्ययो धश्चान्तादेशो भवति । ततो वधूरेव वधूटी । लक्ष्यानुरोधात् टः । यथा स्वर्गग्रामटी कर्कटी इति पृषोदरादित्वाद् वा अटः प्रत्ययः । तस्याम् । वधूटी इत्यपि व्याडिः ।

पत्न्यां कराती गेहिनी सहधर्म्मिणी ॥४०॥

सधर्मचारिणी चापि

पत्नीति पतिशब्दाद् "ऊढायाम्" [२।४।५१] इति ङीः, नकारश्चान्तादेशः। तस्याम् । करो हस्त आत्तोऽस्याः, करे आत्ता वा कराती । एवं करगृहीती, पाणिगृहीती, पाण्यात्ती[1] । "पाणिगृहीतीति" [२।४।५२] इत्यनेन ङ्यन्तो निपात्यते। गेहम्-गृहम् अस्त्यस्या गेहिनी । सह धर्मोऽस्त्यस्याः सहधर्मिणी । सह धर्मं चरति इत्येवंशीला सधर्मचारिणी, यज्ञादौ सहाधिकारित्वात् ।

स्नुषायां तु वधूट्यपि ।

स्नौति अपत्यवात्सल्यात् स्नुषा । "स्नुपूसूम्वर्कल्लभ्यः कित्" [उ.५४२] इति कित् षः । तस्याम् । बध्नाति वधूटी । "बन्धे" [उ. १५७] इति कित् ऊटः । "वयस्यनन्त्ये" [२।४।२१] इति ङीः ।

प्रेमवत्यपि कान्तायाम्,

प्रेम विद्यते अस्याः प्रेमवती । "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" [७।२।१] इति मतुः । काम्यते कान्ता वल्लभा प्रिया तस्याम् ।

पाणिग्राहो विवोढरि ॥४१॥

परिणेतोपयन्ता च

पाणी गृह्णातीति पाणिग्राहः । "कर्मणोऽण्" [५।१।७२] इति अण् । विवहति परिणयति विवोढा भर्ता, तत्र । परिणयति परिणेता । तृन् । उपयच्छते उपयन्ता । अनुस्वारेत्त्वान्नेट् ।

यौतके दाय इत्यपि ।

युतयोः—वधूवरयोरिदं यौतकम्, तत्र । दीयते दायः । यत् शाश्वतः—"यौतकादिधनं दायो दायो दानमुदाहृतम्" । [ ] इति । यौतुकम् अपि ।

दीधीषूर्दिधिषूः

"ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये" धृष्णोति दीधीषूः दिधिषूश्च । "धृषेर्दिधिष् दीधीषौ च" [उ. ८४२] इति 'ऊ' प्रत्ययः, धातोश्च दिधिष् दीधीष् इत्यादेशौ भवतः । यद्

---

१. जे. पण्यात्ती ।

वा, "दिधि धैर्यम्" इन्द्रियदौर्बल्यात् स्यति त्यजति इति दिधिषूः । "अन्दूदृन्भूजम्बू०" [पा. उ. ९६] इति **पाणिनीयोणादिसूत्रेण** निपातनात् साधुः । पुनर्भूस्त्रीनाम्नी ।

जीवत्पत्नी जीवत्पतिः समे ॥४२॥

जीवन् पतिरस्याः जीवत्पत्नी जीवत्पतिश्च । "पत्युर्नः" [२।४।४८] इत्यनेन पत्यन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वा भवति । तत्सन्नियोगेऽन्तस्य नकारादेशश्च ॥४२॥

तुल्ये अवीरानिर्वीरे

न विद्येते वीरौ—पतिपुत्रौ अस्याः अवीरा । निर्गतौ वीरौ— पतिपुत्रौ अस्याः निर्वीरा । निष्पतिसुता स्त्री, तन्नाम्नी । तुल्ये—समाने ।

श्रवणा-श्रमणे तथा ।

शृणोति श्रवणा । "तृकृश्रृपृभृवृश्रुरुरुहि०" [उ.१८७]इति अणः । श्राम्यति तपसा श्रमणा । "नन्द्यादिभ्योऽनः" [५।१।५२] इति अनः ।

रण्डापि विधवा

रमते रण्डा । "पञ्चमाड्डः" [उ. १६८] इति डः । विगतो धवो भर्ताऽस्या विधवा ।

पुष्पवती स्यात्पुष्पिताऽपि च ॥४३॥

पुष्पम् विद्यतेऽस्याः मतौ पुष्पवती । "पुष्पम् जातमस्यां पुष्पिता" इति **माला** । तारकादित्वाद् 'इतः' ॥४३॥

पुष्पे कुसुममप्युक्तम्

"पुष्पच् विकसने" दैवादिकः[1] । पुष्यति पुष्पम् । "अच्" [५।१।४९] इत्यच् । तत्र "कुसच् श्लेषे" कुस्यति कुसुमम् । "उद्वटिकुल्यलिकुथिकुरिकुटिकुडिकुसिभ्यः कुमः" [उ.३५१] इति किद् उमः ।

पशुधर्मोऽपि मोहने ।

पशूनाम् अविवेकिनाम् धर्मः पशुधर्मः । मुह्यन्ति इन्द्रियाणि अत्र मोहनम्—सम्भोगः, तत्र । "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट् ।

सहोदरे सगर्भ्योऽपि स्यात्

सह तुल्यम् उदरम् अस्य सहोदरः, तत्र । समाने गर्भे भवः सगर्भ्यः । "भवे" [६।३।१२३] इति यः प्रत्ययः । "सगर्भसयूथसनुताद् यत्" [पा.४।४।११४] **पाणिनीयव्याकरणसूत्रेण** 'यत्' प्रत्यये वा साधुः । छान्दसोऽपि लोकेऽभिधानात् । यदाह **अमरः**—

---

१. प्रा. दिवादिः ।

"समानोदर्यसोदर्यसगर्भ्यसहजाः समाः" । [अ.२।६।३४] इति ।

अग्रजवदग्रिमः ॥४४॥

अग्रे जातो अग्रजः । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । अग्रे भवो अग्रिमः । "पश्चादाद्यन्ताऽग्रादिमः" [६।३।७५] इति इमः प्रत्ययः ॥४४॥

शण्ठः शण्ढः पण्डुरपि क्लीबः

शाम्यति शण्ठः । "शमेर्लुक् च वा" [उ. १६५] इति ठः प्रत्ययः । शाम्यति शण्ढः । "शमिषणिभ्यां ढः" [उ. १७९] इति ढः । "पडुङ् गतौ" पण्डते पण्डुः । "पृकाहृषिधृषीषिकुहि०" [उ. १२९] इत्यादिशब्दात् कित् उः । "क्लीबृङ् अधाष्ट्र्ये" अचि, क्लीबते क्लीबो नपुंसकस्तन्नामानि ।

माता जनित्र्यपि ।

मान्यते माता । "मानिभ्राजेर्लुक् च" [उ. ८५९] इति तृः । जायतेऽस्यां जनित्री । "वन्धिवहि०" [उ. ४५९] इत्यादिशब्दाद इत्रः । यद् वा, जनयति जनित्री । शतृप्रत्ययः । "या जनित्री त्रिलोक्या" इत्यन्तर्भावितण्यर्थत्वात् ।

चिहुरा अपि केशाः स्युः

चकन्ते चिहुराः । "श्वशुरकुकुन्दुर०" [उ. ४२६] इति 'उर'प्रत्ययान्तो निपात्यते । यदाह हुग्रः (? दुर्गः)—

"कुन्तला मूर्द्धजास्त्वस्राश्चिकुराश्चिहुरा" इति । [ ] क्लिश्यते एभिः केशाः । "क्लिशः के च" [उ. ५३०] इति शः । शिरोजः[1], अङ्गजः शिरोरुहः च ।

कर्णः शब्दग्रहोऽपि च ॥ ४५ ॥

कर्ण्यते आकर्ण्यते अनेन कर्णः । किरति अनेन वा । "इणुर्विशावेणि०" [उ. १८२] इति णः प्रत्ययः । शब्दो गृह्यते अनेन शब्दग्रहः । शब्दम् गृह्णाति वा अजन्तः ॥ ४५ ॥

नेत्रं विलोचनमपि

नीयते दृश्यम् अनेनेति नेत्रम् । पुंक्लीबः । "नीदा०" [५।२।८८] इति त्रट् । "लोचृङ् दर्शने" विशेषेण लोच्यते अनेन विलोचनम् । "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट् । प्यात्वम् पेत्वम् कणीचिः, अक्षा, तारकम् चापि ।

सृक्वणी सृक्विणी अपि ।

सृजतो लालां सृक्वणी । "सृजेः स्रज् सृकौ च" [उ. ९०७] इति क्वनिप्, धातोः सृग् इत्यादेशश्च । "छविच्छिवि०" [उ. ७०६] इति 'वि' प्रत्यये निपातनात

---

१. जे. प्रतौ–शिरोजः नास्ति ।

सृक्विणी । "प्रान्तौ ओष्ठस्य सृक्विणी" [२।६।९१] इति **अमरः** । क्लीबलिङ्गः । ओष्ठपर्यन्तनाम्नी ।

दाढिका द्राढिकाऽपि स्यात्

दाढाप्रतिकृतिर्दाढिका । द्राढाप्रतिकृतिर्द्राढिका । "तस्य तुल्ये कः संज्ञा-प्रतिकृत्योः" [७।१।१०८] इत्युभयत्र कः ।

कपोणिस्तु कफोणिवत् ॥ ४६ ॥

[कीकं] फणति–गच्छति कपोणिः कफोणिश्च । उभावपि पृषोदरादित्वात् साधू । 'वत्' अर्थः एवम्, यथा कफोणिशब्दः कूर्परवाची तथा कपोणिरपीति ॥४६॥

कूर्परे कुर्परः

"कृपौङ् सामर्थ्ये" कल्पते कूर्परः । "कुरत् शब्दे" कुरति कूर्परः । उभावपि "जठरकर्कर०" [उ. ४०३] इति अरे साधू । तस्मिन् कूर्परे भुजामध्ये ।

सिंहतलः संहतलोऽपि च ।

"तलण् प्रतिष्ठायाम्" णिचोऽनित्यत्वाद् अचि तलति तलः, सिंहस्य इव तलः सिंहतलः, सिंहो हि मिलिताभ्यां चपेटाभ्यां हन्ति । संहतम्–संघट्टं लातीति संहतलः संहतलाख्यः ।

चलुकोऽपि चलुः

चलति चलुः । पुंल्लिङ्गः । "भृमृतॄ०" [उ. ७१६] इति बहुवचनाद् उः "स्वार्थिके के प्रत्यये चलुकः । प्रसृतद्रवाधारः ।

मुष्के स्यादाण्डः पेलकोऽपि च ॥ ४७ ॥

अणति शब्दायते अत्राऽऽहतः प्राणी आण्डः । "कण्यणिखनिभ्यो णिद्वा" [उ. १६९] इति वा णित् डः प्रत्ययः । पेलति ऊर्ध्वम् गच्छति भयेनेति पेलम् । स्वार्थिके के, पेलकः । मुष्णाति शुक्रम् मुष्कः । पुंक्लीबलिङ्गः । "विचिपुषि०" [उ. २२] इति कित् कः । तत्र । स्याद् भवेत् ॥ ४७ ॥

पत्पादङ्घ्रिश्च चरणे

"पदिंच् गतौ" पद्यते पत् । "क्रुत्सम्पदादित्वात् क्विप्" [५।३।११४]। यदाह **व्याडिः**— 'पत्पादोऽङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्री' [ ] इति

पादयति पाद् । णौ क्विप् । 'द्'अन्तोऽयम् पुंसि । यदाह **दुर्गः**—

पादसमानार्थः पादप्यस्ति ।

'अघुङ् गत्याक्षेपे" अङ्घते अनेनेति अङ्घ्रिः । पुंल्लिङ्गः । 'तङ्कवङ्किअङ्कि-मङ्किअंहि०" [उ. ६९२] इत्यनेन अङ्घेरऽपि रिः प्रत्ययः । चरन्ति अनेन चरणः ।

पुंक्लीबलिङ्गस्तत्र । "तृकृशृपृ०" [उ. १८७] इत्यादिना अणः प्रत्ययः । पद्वापि दन्तोऽयम् ।

कीकसं हड्डमित्यपि ।

कीति कसति कीकसम् । ककन्ते अत्र श्वान इति वा । "फनस०" [उ.५७३] इति असे निपात्यते । "हड्ड सौत्रो धातुः" हडति हड्डम् "कुगुहुनीकुणी०" [उ. १७०] इत्यादिशब्दात् किद् डः । यदाह वैजयन्ती–

"अथास्थिकीकसं हड्डम्" [ ] इति । देश्याम् अपि ।

कपालं शकलमपि

"कपिः सौत्रः" कप्यते कपालम् । पुंक्लीबलिङ्गः । "ऋकमृ०" [उ.४७५] इति आलः । कम् पालयति वा । तच्च मूर्ध्नोऽर्द्धास्थि, घटादिखण्डेऽप्युपचारात् । "शक्लृंट् शक्तौ" शक्नोति शकलम् । "मृदिकन्दिकुण्डिमण्डिमङ्गिपण्टिपाटिशकि०" [उ. ४६५] इति अलः ।

पृष्ठास्थनि कशारुका ॥४८॥

पृष्ठस्याऽस्थि पृष्ठास्थि, तत्र । "कश् शब्दे" तालव्यान्तः । सौत्रोऽयमिति एके । कश्यते कशारुः । "कृपिक्षुधिपीकुणिभ्यः कित्" [उ.८१५] इति बहुवचनाद् आरुः । के, कशारुका । स्त्रीक्लीबलिङ्गः ॥४८॥

मज्जायामस्थितेजोऽपि

मज्यन्तेऽनया अस्थीनि इति मज्जा । भिदादित्वाद् अङ्, "सस्य शपौ" [१।३।६१] इति "टुमस्जोंत् शुद्धौ" इत्यस्य धातोः सस्य शे, "तृतीयस्तृतीय०" [१।३।४९]इति शकारस्य जे मज्जा इति रूपसिद्धिः[1] । स्त्रीलिङ्गः । तस्याम् । अस्थनि तेजोऽस्य अस्थितेजः । मज्जति अस्थनि मज्जा इत्यपि । "उक्षितक्षि०" [उ.९००] इति अन् । पुंसि अयम् । वाचस्पतिस्तु—"अथ मज्जा द्वयोः"[ ] इति एनं स्त्रियामप्याह ।

नाडीषु नाडिनाटिकाः ।

नडस्येव एताः नाड्यः शौषिर्यात् । नडेः सौत्रस्य वा घञ्प्रत्ययस्तासु । "नडिः" सौत्रः । नडन्ति नाडयः । "कमिवमिजमि०" [उ. ६१८] इति बहुवचनात् णित् इः । "नटण् अवस्यन्दने" घञि नाटयः, के, नाटिकाः । नाडय एव नाडिका इति एके पेठुः ।

शिङ्घाणकोऽपि शिङ्घाणः

---

१. जे. रूपसिद्धः ।

"शिघु आघ्राणे" तालव्यादिः । शिङ्घ्यते शिङ्घाणकः । "धाल्हशिङ्घिभ्यः" [उ.७०] इति आणकः प्रत्ययः । शिङ्घते शिङ्घाणः । "बहुलम्" [५।१।२] इति आणः । सिंहाणम् अपि । नासिकामलनाम्नी ।

सृणीका सृणिकाऽपि च ॥४९॥

सरति गच्छति मुखात् सृणीका । "सृणीकाऽस्तीक०" [उ.५०] इति इके निपात्यते । "कुशिकहृदिकमक्षिक०" [उ.४५] इति इकप्रत्यये निपातनात् सृणिका लाला तन्नाम्नी ॥४९॥

शान्तः पान्तश्च विड् गूथेऽशुचि

"विशंत् प्रवेशने" विशति पक्वाशये विट् । "विष्लृंकी व्याप्तौ" वेवेष्टि अन्त्रम् विट् । शान्तः शकारान्तः, षान्तः षकारान्तश्च ।

शान्तपक्षे रूपाण्येवम्—विट्, विड्, विशौ, विशः । षान्तपक्षे यथा—विट्, विड्, विषौ, विषः । स्त्रीलिङ्गः । वैजयन्तीकारस्तु—"उच्चारो विट् नना'[ ]इति" क्लीबेप्याह । अमरस्तु—"विष्ठाविषौ स्त्रियाम्" [२।६।६८] इति मूर्धन्यम् षम् आह । गूयते उत्सृज्यते गूथम् । पुंक्लीबलिङ्गः । "पथयूथ०" [उ. २३१] इति थे निपात्यते । तत्र । न शुचि अशुचि । क्लीबलिङ्गः । आरालम् अपि । दीर्घादिरयम् ।

वेशोऽपि वेषवत् ।

"विशंत् प्रवेशे" विशति चेतोऽत्र वेशः, तालव्यान्तः । "पदरुज०" [५।३।१६] इति घञ् । वेवेष्टि अङ्गम् वेषः । वस्त्रालङ्कारमाल्यप्रसाधनैरङ्गशोभा । यथा वेषशब्दो नेपथ्ये वर्तते तथा वेशोऽपि ।

उत्सादनोच्छादनौ च

"षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" उत्साद्यते मलोऽनेन उत्सादनम्, उद्वर्तनम् । "छंदण् अपवारणे" उच्छाद्यतेऽनेन उच्छादनम् । उभयत्र "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट् ।

आप्लवाप्लावौ तथा समौ ॥ ५० ॥

"प्लुंङ् गतौ" आप्लवनम् आप्लवः आप्लावः । "आङो रुप्लोः" [५।३।४९] इति वा अल् प्रत्ययः । स्नाननाम्नी ॥५०॥

वंशकं कृमिजग्धं चागुरौ स्यात् ।

वंशप्रतिकृति वंशकम् इति **अमरटीका** । "तस्य तुल्ये कः संज्ञाप्रतिकृत्योः" [७।१।१०८] इति कः । कृमिभिर्जग्धम् कृमिजग्धम् । **यदाहुः**

"अगुरु प्रवरलोहं कृमिजग्धमनार्जकम्"। इति न गुरुः अगुरुः। पुंक्लीबलिङ्गस्तत्र।

अथ वाल्हिकम्।

संङ्कोचं पिशुनं वर्ण्यमसृक्संज्ञं च कुङ्कुमे ॥ ५१ ॥

"वर्हि वल्हि प्राधान्ये" वल्हते वल्हिः। "पदिपठि०" [उ.६०७] इति इः। बाहुलकाद् दीर्घे, वाल्हयः। स्वार्थिके के, वाल्हिकाः देशस्तेषु भवं वाह्लिकम्। "कोपान्त्यात्०" [६।३।५६] इति अण्।

"कुच सम्पर्चनकौटिल्यप्रतिष्टम्भविलेखनेषु" संकोचति कुटिलीभवति संङ्कोचम्। "अच्" [५।१।४९] इत्यच्। "पिशंत् अवयवेऽपि" पिशति पिशुनम्। "पिशिमिथिक्षुधिभ्यः कित्" [उ. २९०] इति किद् उनः। वर्ण्यते वर्ण्यम्। "य एच्चाऽऽतः" [५।१।२८] इति यः। असृक्संज्ञाऽस्य असृक्संज्ञम्। "कुकि आदाने" कुक्यते कुङ्कुमम्। "कुन्दुमलिन्दुमकुङ्कुमविद्रुमपट्टुमादयः" [उ. ३५२] इति 'कुम'-प्रत्ययान्तो निपात्यते। क्लीबलिङ्गोऽयम्। वाचस्पतिस्तु "निदाघेऽपि कुङ्कुमः सुखः स्यात्" इति पुंस्याह। तत्र अग्निशिखम्, कश्मीरजम्, हरिचन्दनम् असृक् च ॥५१॥

जापके कालानुसार्यम्।

जापकाद्विभवत्वात् जापकम् कालीयकम्, तत्र कालायाम् भूमौ अनुसार्यते कालानुसार्यम्।

यावनोऽपि च सिल्हके।

यवनदेशे भवो यावनः। "भवे" [६।३।१२३] इति अण्। "सिलत् उञ्छे" दन्त्यादिः। सिलति सिल्हः। "बहुलम्" [५।१।२] इति हः। सिलम् जहाति इति वा। "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः, के, सिल्हकम्, तत्र।

मकुटोऽपि च कोटीरे।

"मकुङ् मण्डने" मङ्कयते मण्ड्यते शिरोऽनेन मकुटम्। "मङ्केर्मकमुकौ च" [उ. १५४] इति उटः, मङ्केश्च मक् इत्यादेशः। "कुटत् कौटिल्ये" कुटति कोटीरम्। "कृशॄपॄगॄमञ्जिकुटि०" [उ. ४१८] इति ईरः। बाहुलकाद् गुणः, तत्र तिरीटम् अपि।

चित्रकं च विशेषके ॥ ५२ ॥

चित्र्यते शिरोऽनेन चित्रम्, के, चित्रकम्। क्लीबलिङ्गः। विशिनष्टि ललाटम् विशेषकम्। पुंक्लीबलिङ्गः। तिलकस्तत्र ॥५२॥

वतंसोऽप्यवतंसे स्यात्।

"भूष तसु अलङ्कारे" अवतंस्यतेऽनेन अवतंसः।

"व्यञ्जनाद् घञ्" [५।३।१३२] "वाऽवाप्योस्तनिक्रीधाग्नहोर्वपी" [३।२।१५६] इति अवस्य 'व' आदेशे वतंसः। अवतनोति शोभाम् इति अवतंसः, तत्र। "व्यवाभ्यां तनेरीच्च वेः" [उ. ५६५] इति सः । वीतंसोऽपि।

पत्रभङ्ग्यां तु पण्डितैः।

पत्राद् वल्लरी तत्र मञ्जरी च तथोदिता ॥५३॥

पत्राकृतिर्भङ्गिः पत्रभङ्गिः। "इतोऽक्त्यर्थात्" [२।४।३२] इति ङ्याम् पत्रभङ्गी, तस्यां पत्रभङ्ग्याम्–पत्रलेखायाम्। स्त्रीणां कपोल-स्तनमण्डलादिषु कस्तूरिकादिभिः पत्ररचनायामित्यर्थः। पत्रात् पत्रशब्दादग्रे वल्लरी इति प्रयोज्यते तत एवं, पत्राकृतिर्वल्लरी पत्रवल्लरी। पत्राकृतिर्मञ्जरी पत्रमञ्जरी। पण्डितैः उदिता–कथिता॥ ५३ ॥

कर्णान्दूरपि कर्णान्दुः।

कर्णयोः अन्यते बध्यते कर्णान्दूः। "कृपिचमितनिधन्यन्दि०" [उ. ८२९] इति ऊः प्रत्ययः। इति **वैजयन्तीकारः**। "भृमृतृत्सरि०" [उ. ७१६] इति बहुवचनाद् 'उ'प्रत्यये कर्णान्दुः। [1]उत्क्षिप्तिका कर्णलालिका इत्यन्ये। यदाहुः—

"उत्क्षिप्तिकायां कर्णान्दुः कर्णपाश्यामपि स्त्रियाम्"। [ ]

इति। द्वयोरपि यथा–"सुवर्णकर्णान्दुविलोलकर्णा।" [ ]

परिहार्योऽपि कङ्कणम्।

परि–सर्वतोभावे ह्रियते परिहार्यः। "ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण्" [५।१।१७] इति घ्यण्। कङ्कते याति हस्तम् कङ्कणम्। "तृकृशॄपॄभॄवृश्रुरुहिरु०" [उ.१८७] इति अणः। प्रतिसरः।

किङ्कणी कङ्कणी तुल्ये।

कङ्कते याति कटीम् किङ्कणिः कङ्कणिश्च। "कङ्केरिच्चास्य वा" [उ. ६३९] इति अणिः, धातोः अकारस्य च इकारो वा भवति। ङ्याम् किङ्कणी कङ्कणी,[2] किङ्किणीका इत्यपि।

आच्छादाच्छादने समे॥ ५४ ॥

आच्छाद्यतेऽनेन आच्छादः। "युवर्ण०" [५।३।२८] इति अल्। आच्छादनम्। "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] अनट् इति अनट्। वस्त्रनाम्नी ॥५४॥

कूर्पासोऽप्यङ्गिका।

---

१. जे. प्रतौ. 'उत्क्षिप्तिका कर्णलालिकेत्यन्ये। यदाहुः' इति पाठो नास्ति।

२. जे. 'कङ्कणी' नास्ति।

"कुरत् शब्दे" कुरति कूर्पासः । "कृकुरिभ्यां पासः" [उ. ५८३] इति पासः । कूर्परे अस्यते वा, पृषोदरादित्वात् साधुः । अङ्गस्य प्रतिकृतिरिति अङ्गिका । "तस्य तुल्ये कः संज्ञाप्रतिकृत्योः" [७।१।१०८] इति कः । कञ्चुलिकानाम्नी ।

कक्षापटे कक्षापुटोऽपि च ।

कक्षयोः पटः कक्षापटः, कौपीनम् , तत्र कक्षयोः पुटः कक्षापुटः ।

कुथे वर्णपरिस्तोम इत्यखण्डं जगुः परे ॥५५॥

तत्रास्तरणमिति च

कुथ्यते क्लिश्यते कुथः स्थादित्वात् कः । क्रियते कार्यते वा "पथयूथ०" [उ.२३१] इति थे निपात्यते । तत्र वर्ण्यते वर्णः । परिस्तोम्यते प्रस्तीर्यते[2] परिस्तोमः । वर्णश्चासौ परिस्तोमश्च वर्णपरिस्तोमः । अखण्डम् परिपूर्णम् जगुः—ऊचुः अपरे आचार्याः ॥५५॥ तत्र कुथे "स्तॄगृश् आच्छादने" आस्तीर्यते हस्तिपृष्ठम्[3] अनेन आस्तरणम् । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९]इति अनट् ।

पल्यङ्कोऽप्यवसक्थिका ।

पर्यञ्च्यते पर्यङ्क्यते वा पल्यङ्कः । "परेर्घाङ्क०" [२।३।१०३] इति लत्वम् । सक्थिप्रतिकृतिः सक्थिका, यष्टिः । अव आलम्बने अव्ययम् । अव आलम्बनार्थम् सक्थिका अत्र अवसक्थिका । अवनद्धे अवकृष्टे वा सक्थिनी अस्याम् अवसक्थिका । "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" [७।३।१२६] इति समासान्तः टः प्रत्ययः, टित्त्वात् ङीः, ततः स्वार्थे कः प्रत्ययः ।

यमन्यपि प्रतिसीरा

"यमू उपरमे" यच्छन्ति अस्याम् यमनी । यम्यतेऽनया वा अनट् । प्रतिसिन्वन्ति एनाम् प्रतिसीरा । "चिजिशुसि०" [उ.३९२] इति रः ।

स्रस्तरः प्रस्तरोऽपि च ॥५६॥

स्रंसते अत्रेति स्रस्तरः । "जठर०" [उ.४०३] इति अरे निपात्यते । प्रकर्षेण स्तीर्यते प्रस्तरः, पल्लवपत्रादिरचिता शय्या ॥५६॥

प्रतिग्रहपतद्ग्राहावपि स्यातां पतद्ग्रहे ।

प्रतिगृह्णाति आवेलकादि प्रतिग्रहः । पतद् गृह्णाति पतद्ग्राहः । "वा ज्वलादि०"[५।१।६२] इति णः । स्याताम्—भवेताम् । पतद् गृह्णाति पतद्ग्रहः, तत्र ।

मुकुरोऽप्याऽऽत्मदर्शे—

---

१. जे. स्थादित्वात् साधुः । २. प्रा. प्रस्तार्यते । ३. प्रा. "हस्तिपृष्ठम्" नास्ति ।

मङ्क्यते मण्ड्यते वपुः अनेन मुकुरः। "मङ्केर्न लुक् वोचास्य" [उ.४२४] इति। "मकुङ् मण्डने" इत्यस्य उरः प्रत्ययः नकारस्य लुक्, अकारस्य च वा उकारः स्यात्। आत्मा दृश्यते अनेन आत्मदर्शो दर्पणः, तत्र।

अथ कशिपुः कसिपुः समौ ॥५७॥

कसति गच्छति क्लेशोऽनेन कसिपुः। पुंक्लीबलिङ्गः। "कश शब्दे" कशति क्लेशम् कशिपुः। तालव्यमध्य इति **अमरः**। उभयत्र "कस्यर्त्तिभ्यामिपुक्"[उ.-७९८] इति इपुक् ॥५७॥

यावकालक्तकौ यावे

याव एव यावकः। "यावादिभ्यः कः" [७।३।१५] इति स्वार्थे कः प्रत्ययः। न लज्जते अलति दीप्यते वा अलक्तः। "पुतपित्त०"[उ. २०४] इति ते निपात्यते। यद्वा ईषद् रक्त अरक्तस्ततो रस्य लत्वम्। "यावादिभ्यः कः" [७।३।१५] इति स्वार्थिके के, अलक्तकः। यूयते यौति मिश्रीभवति वा यवः। स एव "प्रज्ञादि०" [७।२।१६५] अणि, यावः, तत्र। **यद् धनपालः**—

"तद्रागो यावकोऽलक्तकः स्मृतः"।

अमरादयस्तु—"यावालक्तौ लाक्षादिभिः सहैकार्थौ"[ ][1] आहुः।

तुल्ये व्यजनवीजने।

व्यजन्ति विक्षिपन्ति वातम्[2] अनेन व्यजनम्, तालवृन्तम्। अनट्। "ईजि कुत्सने च, चकाराद् गतौ" विशेषेण ईज्यते प्रेर्यते वीजनम्। "अनट्"[५।३।१२४] इति अनट्। "वीजण् व्यजने" अनटि, इत्यस्य वा रूपम्[3]। तुल्ये—समे।

गिरीयको गिरिकोऽपि बालक्रीडनके मतौ ॥५८॥

गीर्यते याति च गिरीयकः। पृषोदरादित्वात् साधुः। गीर्यते गिरिः। "नाम्युपान्त्यकॄगॄ०" [उ.६०९] इति किद् इः, स्वार्थिके के, गिरिकः। बालाः क्रीडन्ति अनेन बालक्रीडनम्, स्वार्थिके के बालक्रीडनकम्, तत्र, मतौ—सम्मतौ ॥५८॥

गेण्डुकोऽपि गेन्दुकः

गाते गच्छति गाः—गच्छन् ईड्यते—स्तूयते गेण्डुकः। "कन्दुकांशुक०" [उ.५७] इति उके निपात्यते। गाः—गच्छन् इन्दुकः—गुडकः[4] गेन्दुकः, गगने इन्दुरिव वा पृषोदरादित्वात् साधुः। कन्दुः अपि।

---

१. जे. इत्यस्मात् रः। २. जे. वातमनोन। ३. प्रा. प्रतौ—'वीजण् व्यजने अनटि इत्यस्य वा रूपम्' इति नास्ति पाठः। प्रा. ४ 'गुडकः' नास्ति।

राट् मूर्द्धावसिक्त इत्यपि ।

राजते दीप्यते राट् राजा । मूर्द्धनि—मस्तके अवसिच्यते स्म मूर्द्धावसिक्तः ।

भरतः सर्वदमनोऽपि

बिभर्त्ति धरणीम् इति भरतः—दौष्यन्तिः । "दृपृभृ०" [उ. २०७] इति अतः । सर्वान् दमयति सर्वदमनः । "नन्द्यादिभ्योऽनः' [५।१।५२] इति अनः ।

अथ दाशरथावुभौ ॥५९॥

रामचन्द्र-रामभद्रौ

दशरथस्य अपत्यम् दाशरथिः । "अत इञ्" [६।१।३१] इति इञ् । तत्र दाशरथौ रामे । रमते रामः "वा ज्वला०" [५।१।६२] इति णः । चन्दति दीप्यते आह्लादयति वा चन्द्रः । "ऋज्यजि०" [उ. ३८८] इति कित् रः । रामश्चासौ चन्द्रश्च रामचन्द्रः । भन्दते मनोऽत्र भद्रः । "भन्देर्वा" [उ. ३९१] इति रो नलुक् । रामश्चासौ भद्रश्च रामभद्रः ।

हनूमानपि मारुतौ ।

हनुः अस्त्यस्य हनूमान् । "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" [३।२।८६] इति बहुलवचनात् दीर्घः । इन्द्रव्याकरणे तु "क्वचिन्मतौ दीर्घः" [ ] इत्यनेन सूत्रेण दीर्घः । "हनूः इति दीर्घोकारान्तोऽयम्" इति अन्ये । मारुतस्य अपत्यम् मारुतिः । "अत इञ्" [६।१।३१] इति इञ् । तत्र ।

वाली सुग्रीवाग्रजोऽपि,

वालयतीति वालिः । "स्वरेभ्य इः" [उ. ६०६] इति इः । तत्र सुग्रीवस्य अग्रजः सुग्रीवाग्रजः ।

पार्थे बीभत्सुरित्यपि ॥६०॥

पृथायाः—कुन्त्या अपत्यम् पार्थः अर्जुनः, तत्र बीभत्सते बीभत्सुः । "सन्-भिक्षाऽऽशंसेरुः" [५।२।३३] इति उः ॥६०॥

सातवाहनवत् सालवाहनोऽपि प्रकीर्त्तितः ।

सातम्—दत्तम् सुखम् वाहनम् अस्य सातवाहनः । सालस्य-देवदारुद्रुमस्य वाहनम् अस्य सालवाहनः । सालम्—लक्ष्मीदीप्तम् वाहनम् अस्येति वा । वदर्थः प्राग्वद् अवसेयः । प्रकीर्त्तितः कथितः बुधैरिति गम्यते ।

परिच्छदे परिजनः परिबर्हणमित्यपि ॥६१॥

परितश्छाद्यतेऽनेन परिच्छदः । "पुन्नाम्नि०" [५।३।१३०] इति घे, "एको-पसर्गस्य०" [४।२।३४] इति ह्रस्वः । परिवारः तत्र परितो जन्यतेऽनेन परिजनः ।

परिवर्ह्यते–वर्द्धचते परिवर्ह्यते[1] प्राधान्यम् भज्यते हिंस्यते वाऽनेन परिबर्हणम् । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट् । परिधायोऽपि ॥६१॥

मन्त्री बुद्धिसहायोऽपि

मन्त्रः कर्तव्यावधारणम् अस्त्यस्य मन्त्री। बुद्धया: सहायः–सखा बुद्धिसहायः। "मन्त्रिण् गुप्तभाषणे" "पदिपठिपचिरथलि०" [उ. ६०७] इति 'इ' प्रत्यये मन्त्रयति मन्त्रिः इत्यपि ।

वेत्री वेत्रधरोऽपि च ।

वेत्रम्–वेत्रदण्डः अस्त्यस्य वेत्री । वेत्रम् धरतीति वेत्रधरः ।

हेमाध्यक्षे हैरिकोऽपि ।

हेम्नः स्वर्णस्य[2] अध्यक्षः हेमाध्यक्षः । तत्र हिरण्ये नियुक्तो हैरिकः, इति **नैरुक्ताः** । "तत्र नियुक्ते" [६ । ४ । ७४] इति इकण् ।

टङ्कपतिस्तु नैष्किके ॥ ६२ ॥

टङ्कानाम्–दीनारादीनाम् पतिः टङ्कपतिः । निष्के–दीनारादौ नियुक्तो नैष्किकः। "तत्र नियुक्ते" [६ । ४ । ७४] इति इकण् ॥ ६२ ॥

शुद्धान्ताध्यक्ष आन्तर्वेश्मिकान्तःपुरिकावपि ।

शुद्धान्ते–अन्तःपुरे अध्यक्षः शुद्धान्ताध्यक्षः । अन्तर्वेश्मनि नियुक्तः आन्तर्वेश्मिकः । अन्तःपुरे नियुक्तः आन्तःपुरिकः । उभयत्र "तत्र नियुक्ते" [६।४।७४] इति इकण् ।

सहाय–साप्तपदीनौ सख्यौ ।

सह अयते चरति सहायः। सप्तभिः पदैः अवाप्यते साप्तपदीनः। "समांसमीन०" [७। १। १०५] इति ईनञि साधुः । सनोति सनति वा सखा–मित्रम्, तत्र । "सनेर्डखिः" [उ. ६२५] इति डखिः । नन्तोऽपि ।

असुहृदप्यरौ ॥ ६३ ॥

न सुहृत्–मित्रम् असुहृत् । नास्ति शोभनम् हृदयम् अस्य वा । इयर्ति अरिः । "स्वरेभ्य इः" [उ. ६०६] इति इः । तत्र दुर्भिदः, भ्रातृव्यः, निगृहीतासिः, आततायी च ॥ ६३ ॥

नये नीतिरपि ।

नयनम् नयः । अल् । नयति शोभाम् वा । "अच्" [५।१। ४९] इति अच् । तत्र । नीयते नयनम् वा नीतिः । "स्त्रियां क्तिः" [५।३। ९१] इति क्तिः ।

---

१. जे प्रतौ–'वर्द्धयते परिवर्ह्यते' इति पाठो नोपलभ्यते । २. जे. सुवर्णस्य ।

स्कन्धावारेऽपि शिविरो मतः ।

चतुरङ्गसैन्यस्य प्रधानभूतत्वात् राजा स्कन्धस्तम् आवृणोति स्कन्धावारः, तत्र । कर्मणः अण् । "शव गतौ" तालव्यादिः । शवति चतुरङ्गसैन्यम् इति शिविरः । "शवशशेरिच्चातः" [उ. ४१३] इति इरः, धातोः अकारस्य च इकारादेशः ।

जयन्त्यपि वैजयन्त्यां पटाकाऽपि प्रकीर्त्तिता ॥ ६४ ॥

जयति जयन्ती । "तृजीभूवदि०" [उ. २२१] इति अन्तः । विजयन्तस्य इयम् वैजयन्ती । "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण् । "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङीः । तस्याम् । "पट गतौ" पटति पटाका । "शलिबलिपतिवृतिनभिपटि०" [उ. ३४] इति आकः । प्रकीर्तिता—कथिता । धूका, ध्वाजिः च ॥६४॥

ध्वजः पताकादण्डोऽपि ।

ध्वजति धूयते ध्वजः । पताकायाः दण्डः पताकादण्डः तन्नाम ।

झम्पानं याप्ययानवत् ।

"चमूछमूजमूझमूजिमू अदने" झमति अत्ति इव झम्पानम् । "मुमुचान-युयुधान०" [उ. २७८] इति आने निपात्यते । याप्यस्य अशक्तस्य यानम्—युग्याख्यम् याप्ययानम् । यथा 'याप्ययान'शब्दः शिबिकावाची तथाऽयमपीति **गौडः** ।

सादी सव्येष्ठोऽपि सूते ।

"षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" सीदतीति सादी । ग्रहादित्वाद् णिन् । सादिः अपि । सव्ये तिष्ठतीति सव्येष्ठः । "स्थापास्नात्रः कः" [५।१।१४२] इति कः । भीरुष्ठानादित्वात् षत्वम्, सप्तम्यलुप् च । सुनोति सूतः । "सुसितनि०" [उ. २०३] इति तो दीर्घत्वं च । सुवतीति वा । तत्र ।

कवचितोऽपि वर्मिते ॥ ६५ ॥

कवचम् जातम् अस्य कवचितः । वर्म जातम् अस्य वर्मितः । उभयत्र तारकादित्वाद् इतः, तत्र ॥६५॥

कवचे दंशनं त्वक्त्रं तनुत्राणमपि स्मृतम् ।

"कुङ् शब्दे" कवते कवचम् । पुंक्लीबलिङ्गः । "कल्यविमदिमणिकुकणिकटिकृम्योऽचः" [उ. ११४] इति अचः । दश्यते—बध्यते देहे दंशनम् । "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट् । त्वचम् त्रायते त्वक्त्रम् । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । तनोः—शरीरस्य त्राणम्—रक्षणम् तनुत्राणम् । स्मृतम्—उक्तम् । अरित्रम् इत्यपि ।

अधियाङ्गं धियाङ्गं चाधिकाङ्गवदुदाहृतम् ॥ ६६ ॥

अधिकम् अङ्गात् अधियाङ्गम् । निरुक्तिवशात् कस्य यकारादेशः । यदाह **मुनिः**– "अधियाङ्गं सारसनम्" । [ ] इति । "धित् धरणे" धियति देहम् धियाङ्गम् । "पतितमितृपकृशल्वादेरङ्गः" [उ. ९८] इति अङ्गः, बाहुलकाद् दीर्घत्वम् च । यदाह **हुग्रः** (? दुर्गः)

"तस्य सारसनं ज्ञेयं धियाङ्गं च निबन्धनम्" । [ ]इति । अधिकम् अङ्गात् अधिकाङ्गम् । यत् सकञ्चुकैर्हृदि धार्यते तन्नामानि । वदर्थः पूर्ववद् अवसेयः ॥६६॥

शिरस्कं खोलमप्याहुः

शिरसो मस्तकस्य प्रतिकृतिः शिरस्कम् । "खोल खोटने" खोल्यते बाणादि प्रतिहन्यतेऽनेन खोलम् । अल् ।

स्यान्निषङ्ग्यपि तूणिनि ।

निषङ्गोऽस्त्यस्य निषङ्गी । तूणम् अस्त्यस्य तूणी, धनुर्धरः तत्र ।

चापे धनूधनुशरासनान्यपि विदुर्बुधाः ॥ ६७ ॥

चपस्य-वेणोर्विकारः चापः, तत्र । "विकारे" [६।२।३०] इति अण् । धन्यते–अर्थ्यते धनति शब्दायते ज्याघातेन वा धनूः । "कृषिचमितनिधनि०" [उ. ८२९] इति ऊः प्रत्ययः । स्त्रीलिङ्गः । "भृमृतॄत्सरितनिधनि" [उ. ७२६] इति 'उः' प्रत्यये धनुः उकारान्तः । पुंक्लीबलिङ्गः । शरस्यासनम् शरासनम् । विदुर्जानन्ति बुधाः-पण्डिताः । कालकम् , कालपृष्ठम् , अवसम् , कमरम् च ॥ ६७ ॥

फरकस्फरकौ खेटे

फलति विशीर्यते फलम् । स्वार्थिके के फलकम् । रलयोरैक्ये फरकम् । पुंक्लीबः । स्फरति चलति स्फरकः । कुटादिः अयमित्येके । तत्पाठबलाच्च णके वृद्धयभावः । खेटयति उत्त्रासयति खेटम् । पुंक्लीबः । तत्र[1] विविक्त–वसुनन्दकौ अपि ।

क्षुरिका छुरिका छुरी ।

क्षुरति-विखनति क्षुरिका । णके आप्....छुरति–छिनत्ति छुरिका । "अच्" [५।१।४९] इति अचि, छुरी ।

ईल्यां तरवालिकाऽपि

१. प्रा. प्रतौ 'तत्र' नास्ति ।

ईल्यते—स्तूयते ईली, एकधारोऽसिः, तुरुष्कायुधम् । तत्र[1] । तरस्य—बलस्य वालः तरवालः । अल्पः तरवालस्तरवालिका । न्युब्जः, खड्गः । कडतलम् इति व्याडिः । स च देश्याम् अपि ।

परिघः पलिघः समौ ॥६८॥

परिहन्यते अनेन[2] परिघः, लोहबद्धो लगुडः । "परेर्घः" [५।३।४०] इति अलि 'घ'आदेशः । "परेर्घाङ्कयोगे" [२।३।१०३] इत्यनेन रेफस्य लत्वे पलिघः ॥६८॥

ऊर्जस्व्यूर्जस्वान्

ऊर्ग् बलमस्त्यस्य ऊर्जस्वी । "ऊर्जो विन्वलावश्चान्तः" [७।२।५१] इति विन् प्रत्ययः, अस् च अन्तः । ऊर्जो बलम् अस्त्यस्य ऊर्जस्वान् । "तदस्यास्त्यस्मिन् इति मतुः" [७।२।१] इत्यनेन ऊर्जयतेरस्प्रत्ययान्तस्य मतुः प्रत्ययः । मतौ ऊर्वान् अपि । ऊर्जातिशयान्वितः ।

मगधो मङ्खो बोधकरोऽर्थिकः ।

मगधः कण्ड्वादौ । मगध्यति याचते मगधः । अच् । वंशोदीरणेन यो याचते । यदाहुः—"मागधाः स्तुतिवंशजाः" इति । "मनिंच् ज्ञाने" मन्यते मङ्खः । "शमिमनिभ्यां खः" [उ. ८४] इति खः । बोधम्-प्रबोधम् करोति मङ्गलपाठैरिति बोधकरः । अर्थ्येव अर्थिकः । स्वार्थिकः कः । अर्थो विद्यतेऽस्य वा । "अतोऽनेकस्वरात्" [७।२।६] इति इकः ।

सौखशायनिकः सौखशय्यिकः सौखसुप्तिकः ॥६९॥

सुखम् च तत् शयनं च सुखशयनम्, सुखशयनम् पृच्छति सौखशायनिकः । "सुस्नातादिभ्यः पृच्छति" [६।४।४२] इति इकण् । अनुशतिकादिपाठात् उभयपदवृद्धिः । सुखशय्याम् पृच्छति सौखशय्यिकः । सुखम् सुप्तम् पृच्छति सौखसुप्तिकः । उभयत्र "सुस्नातादिभ्यः पृच्छति" [६।४।४२] इति इकण् । वैतालिकनामानि ॥६९॥

रणे संस्फेटसम्फेटौ

रणन्ति शब्दायन्ते दुन्दुभयोऽत्र रणम् । पुंक्लीवः । "पुन्नाम्नि०" [५।३।१३०] इति बाहुलकाद् घः । तत्र । "पट स्फिटण् हिंसायाम्" संस्फेटयति[3] कातरहृदयानि संस्फेटः[4] । "पुन्नाम्नि०" [५।३।१३०] इति घः । स्फेटोऽपि ।

---

१. जे. प्रतौ 'तत्र' नास्ति । २. प्रा. प्रतौ 'अनेन' नास्ति । ३. जे. संस्फोटयति । ४. जे. संस्फोटः ।

सम्फेट इति भरतः । पृषोदरादित्वात् साधुः । णके स्फेटकोऽपि । सहुरिः दन्त्यादिरयम्, हान्त्रम्, असुरिः, घासिः, गुबेरम्, युध्मः, तल्पम् च ।

बले द्रविणमूर्क् तथा ।

बलति अनेन बलम् । पुंक्लीबः । "वर्षादयः क्लीवे" [५।३।२९] इति-अल्[1] । तत्र । "द्रु गतौ" द्रवति द्रविणम् । "द्रुहवृहिदक्षिभ्यः इणः" [उ.१९४] इति इणः । "ऊर्जण् बलप्राणनयोः" ऊर्जयतीति ऊर्क् । "दिद्युद्द०" [५।२।८३] इति क्विप् । "रात् सः" [२।१।९०] इति नियमादत्र संयोगान्तलोपो नास्ति । परीरम्, ऋजीकम्, माहिनम्, ताविषम्, तविषम्, द्रप्रः च ।

अवस्कन्दोऽपि धाट्यां स्यात्,

"स्कन्दृं गतिशोषणयोः" अवस्कन्दनम् अवस्कन्दः । अल् । अवस्कन्दन्ति अत्र वा । अच् । धावन्तोऽटन्ति अस्यां धाटिः । पृषोदरादित्वात् साधुः । ङ्याम् धाटी, तस्याम् ।

नशनं च पलायने ॥७०॥

नश्यते नशनम् । "अनट्" [५।३।१२४] इत्यनट् । पलाय्यते पलायनम्, तत्र । "उपसर्गस्याऽयौ" [२।३।१००] इत्यनेन उपसर्गसम्बन्धिनो रेफस्य लत्वम् ॥७०॥

चारकोऽपि भवेद् गुप्तौ,

चरन्ति अनेन चारः । स्वार्थिके के, चारकः । गुप्यते रक्ष्यतेऽस्यां पुमान् गुप्तिः । "स्त्रियां क्तिः" [५।३।९१] इति क्तिः । तस्याम् ।

तापसे तु तपस्व्यपि ।

तपः शीलम् अस्य तापसः । "अङ्स्थाच्छत्राऽऽदेः०" [६।४।६०] इति अञ् । तपोऽस्यास्तीति वा । ज्योत्स्नादित्वाद् अण् । तपो विद्यतेऽस्य तपस्वी । "असूतपोमायामेधास्रजो विन्" [७।२।४८] इति विन् ।

विप्रे ब्रह्माऽपि च

विविधं प्राति-पूरयति विप्रः । "क्वचित् [५।१।१७१]" इति डः । विशेषेण पातीति वा । "खुरक्षुर०" [उ.३९६] इति रे निपात्यते । तत्र । बृंहते ब्रह्मा । अभेदोपचारात् "बृंहेर्नोऽच्च" [उ.९१३] इति मन्, नकारस्य चाऽकारः ।

आग्नीध्राऽऽग्नीध्र्यपि

"ञिइन्धैपि दीप्तौ" अग्निम् इन्द्धे अग्नीध् क्विप्, "नो व्यञ्जनस्य०" [४।२।४५] इति नेलुक् । अग्नीधः । ऋत्विग्विशेषस्य इयं आग्नीध्रा । गृहेऽग्नीधो रण् धश्च"

---

१. जे. इत्यण् । २. जे. 'न' नास्ति ।

[६।३।१७४] इति रण् प्रत्ययः। अन्तस्य तृतीयबाधनार्थं धादेशश्च। आग्नीध्रा एव आग्नीध्री : प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे अण् इति अण्। "अणञेय०" [२।४।२०] इति ङीः। अग्नीन्धननाम्नी।

वृषी वृसी ॥७१॥

ब्रुवन्तः सीदन्ति अस्यां वृषी, तपस्विनामासनविशेषः। पृषोदरादित्वात् साधुः। गौरादित्वाद् ङीः। ब्रुवन्तः सीदन्ति अस्यां वृसी। पृषोदरादित्वात् गौरादित्वाद् ङीः, बाहुलकाद् षत्वाभावः। तालव्योपान्त्योप्ययम् इति एके ॥७१॥

शसनं शमनं च

"शस् हिंसायाम्" शस्यते शसनम्। "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट्। शम्यते शमनम्। अनट्। यज्ञविषयिहिंसानाम।

अथ दधिषाय्यं पृषातके।

दधिभिः स्यति दधिषाय्यम्। दीव्यतेः दीधीषू इत्यादेशे दीधीषाय्यम् अपि। उभावपि "दधिषाय्य-दीधीषाय्यौ" [उ. ३७४] इति आय्य प्रत्ययान्तौ निपात्येते। पृषद्भिः दधिबिन्दुभिः अङ्क्यते पृषातकः। दधिसंयुक्तमाज्यम्, तत्र। पृषोदरादित्वात् साधुः।

अग्निहोत्रिण्यग्न्याहितोऽपि

अग्निहोत्रम् अस्यास्ति अग्निहोत्री, तत्र। अग्नौ आहितः अग्न्याहितः।

उपवासे समाविमौ ॥७२॥

उपवस्त्रमौपवस्तम्

उपवसनम् उपवासः, तत्र। उपवसति अत्र उपवस्त्रम्। "हुयामा०" [उ.४५१] इति त्रः। क्लीबे माला। पुंस्यपि अरुणः। "वसूच् स्तम्भे" उपवस्यते अनेन उपवस्तः, 'क्त' प्रत्ययः। तस्येदम् औपवस्तम्। "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण्। उपवसथोऽपि। इमौ उपवस्त्रौपवस्तशब्दौ समौ-तुल्यौ।

उपवीते प्रचक्षते।

ब्रह्मसूत्रं पवित्रं च,

उपवीयते-प्राव्रियते स्म उपवीतम्, पुंक्लीबलिङ्गः, तत्र। ब्रह्मणः सूत्रं ब्रह्मसूत्रम्। पूयते पुनाति वा पवित्रम् "वन्धिवहि०" [उ. ४५९] इत्यादिना इत्रः प्रत्ययः।

वाल्मीकौ द्वाविमावपि ॥७३॥

मैत्रावरुण्यादिकवी

वल्मीकस्य अपत्यं वाल्मीकिः। बाह्वादित्वाद् इञ्। तत्र। मित्रावरुणयोरपत्यं मैत्रावरुणिः। ऋषिसमुदायस्यानृषित्वाद् इञ्। आदौ कविः आदिकविः। इमौ द्वौ-मैत्रावरुण्यादिकविशब्दौ।

पर्शुरामोऽपि भार्गवे।

पर्शुना—कुठारेण रमते पर्शुरामः। "वा ज्वलादि०" [५।१।६२] इति णः। परशुरामोऽपि। भृगोरपत्यं भार्गवः। "ऋषिवृष्णि०" [६।१।६१] इति अण्। तत्र।

योगीशो याज्ञवल्क्यः

योगिनामीशः योगीशः। यज्ञवल्कस्य अपत्यं याज्ञवल्क्यः। गर्गादित्वाद् यञ्।

दाक्षीपुत्रोऽपि पाणिनौ ॥७४॥

दाक्ष्याः पुत्रो दाक्षीपुत्रः। पाणिनस्यापत्यं पाणिनिः। "अत इञ्" [६।१।३१] इति इञ्। तत्र ॥७४॥

स्फोटायनः स्फौटायनः

स्फोटम्—शब्दस्फोटम् अयते स्फोटायनः स्फोटवादित्वात्। स्फुटस्य अपत्यं स्फौटायनः। "अश्वादेः" [६।१।४९] इति आयनञ्।

कात्यो वररुचौ तथा।

कतस्यापत्यं कात्यः। कात्यः पिताऽस्त्यस्य कात्यः। अभ्रादित्वाद् अः। अभेदोपचारात्। वरा रुचिः अस्य वररुचिः, तत्र।

कारेणवः पालकाप्ये

करेणोः—करिण्या अपत्यं कारेणवः। "ङसोऽपत्ये" [६।१।२८] इति अण्। पालकैः—हस्तिचिकित्सकैः आप्यते—आप्तत्वेन प्राप्यते पालकाप्यः, तत्र। "ऋवर्ण-व्यञ्जनाद् घ्यण्" [५।१।१७] इति घ्यण्।

चाणक्यश्चणकात्मजे ॥७५॥

चणकस्य ऋषेरपत्यं चाणक्यः। "गर्गादेर्यञ्" [६।१।४२] इति यञ्। चणकस्य ऋषेः आत्मजः चणकात्मजः, तत्र ॥७५॥

वैशेषिके कणादोऽपि

नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषास्ते प्रयोजनमस्य वैशेषिकम् शास्त्रम् तद्वेत्त्यधीते वा वैशेषिकः, तत्र । कणान् अत्ति कणादः "कर्मणोऽण्" [५।१।७२] इति अण् । कणान् आदत्ते वा । 'क्वचित्' [५।१।१७१] इति डः ।

जैनोऽनेकान्तवाद्यपि ।

जिनो देवताऽस्य जैनः । अनेकान्तम्-स्याद्वादम् वदतीति अनेकान्तवादी । ग्रहादित्वाद् णिन् ।

चार्वाके लौकायितिकः

"चर्व गतौ" चर्वति आत्मानं चार्वाकः । "मवाकश्यामाक०" [उ. ३७] इति आके निपात्यते । लोकेषु आयतं लोकायतम्, बृहस्पतिप्रणीतं शास्त्रम् तद्वेत्त्यधीते वा लौकायितिकः । "याज्ञिकौत्थिकलौकायितिकम्" [६।२।१२२] इति इकण् प्रत्यये निपात्यते, निपातनाच्च यकाराकारस्य इकारः ।

कृषिः प्रसृतमित्यपि ॥७६॥

कर्षणम् कृषिः । "नाम्युपान्त्यकृगॄ०" [उ. ६०९] इति किद् इः । "सृ गतौ" प्रसियते प्रसृतम् । कर्षणनाम्नी ॥७६॥

न्यासार्पणे परिदानम्

न्यासस्य–निक्षेपस्य अर्पणम्–निक्षेप्त्रे प्रतीपम् दानम् न्यासार्पणम्, तत्र । परिवर्त्ताद् दानम् परिदानम्, प्रतीदानम् अपि । स्मार्ते त्वस्य भेदोऽस्ति ।

"वासनस्थमनाख्याय हस्ते न्यस्य यदर्पितं ।
द्रव्यं तदुपनिधिर्न्यासः प्रकाश्य स्थापितुं तु यत् ॥
निक्षेपः शिल्पहस्ते तु भाण्डं संस्कर्तुमर्पितम् ।" इति ।

तत्रैवं व्याख्या—न्यासः–प्रकाश्य यत् स्थापितं तद् द्रव्यम्, तस्य अर्पणम् न्यासार्पणम्, तत्र ।

वणिक् प्रापणिकः स्मृतः ।

पणायति व्यवहरते वणिक् । "भृपणिभ्यामिज् मुखणौ च" [उ. ८७५] इति 'इज्' प्रत्ययः, पणेश्च वण् इत्यादेशः । प्रापणायति प्रापणिकः । "प्राङः पणिपनिकषिभ्यः" [उ. ४२] इत्यनेन 'प्राङः' इत्यस्माद् उपसर्गसमुदायात् परस्य "पणि व्यवहारस्तुत्योः"—इत्यस्य इकः प्रत्ययः । प्रपूर्वात् पणेरपि इच्छन्ति अन्ये । तन्मते प्रपणिकोऽपि । आपणिका, पनिका, पदिका, पतिका, अपि । एते सर्वेऽपि "आङः पणिपनिपदिपतिभ्यः" [उ. ३९] इत्यनेन इक प्रत्यये साधवः ।

लक्षे च नियुतम्

दशाऽयुतानि लक्षम् "विंशत्यादयः" [६।४।१७३] इत्यनेन लक्षम् इति निपात्यते। लक्ष्यते अनेन वा लक्षम्। स्त्रीक्लीबलिङ्गः। षष्ठम् अङ्कस्थानम्, तत्र। यदाह—

एकं दश शतमस्मात्सहस्रमयुतं ततः परं लक्षम्।
प्रयुतं कोटिमथार्बुदमब्जं खर्वं निखर्वं च॥
तस्मान्महासरोजं शङ्कुं सरितांपतिः ततस्त्वन्त्यम्।
मध्यं परार्धमाहुर्यथोत्तरं दशगुणं तज्ज्ञाः॥

इति। दश अयुतानि मानम् एषामस्य वा नियुतम्। "विंशत्यादयः" [६।४।१७३] इत्यनेन नियुतम् निपात्यते। प्रयुतम् अपि।

पोते स्मृतं प्रवहणं बुधैः ॥७७॥

पूयते अनेन पोतः "दम्यमि०" [उ. २००] इति तः। तत्र स्मृतम् उक्तम्। प्रोह्यतेऽनेन प्रवहणम्। "करणाधारे" [५।३।१२९] इति अनट्॥७७॥

कर्णोऽप्यरित्रे दुर्गस्य

कीर्यते अनेन नौः कर्णः। "इणुर्विशा०" [उ. १८२] इति णः। ईयर्त्ति अनेन नौः अरित्रम्, तत्र। "ऋधूसूखनि०" [५।२।८७] इति इत्रः। दुर्गस्य इति **दुर्गसिंहमते** आह च—"कर्णः श्रोत्रमरित्रं च"। [ ] इति।

गवेश्वरोऽपि गोमति।

गवामीश्वरो गवेश्वरः। "स्वरे वाऽनक्षे" [१।२।२९] इत्यनेन गोशब्दस्य ओकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य स्वरे परे सति अव इत्यादेशो वा भवति। पक्षे गवीश्वरः। गावः सन्ति अस्य गोमान्। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" [७।२।१] इति मतुः। तत्र।

कर्षके क्षेत्रजीवोऽपि

कर्षति भुवम् कर्षकः णकः, तत्र। क्षेत्रेण जीवति क्षेत्रजीवः, क्षेत्राजीवोऽपि।

कोटीशो लोष्टभेदनः ॥७८॥

कोटीभिः—कोणैः श्यति—खण्डयति कोटीशः। "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः। अन्ततालव्यः। लोष्टान् भिनत्ति लोष्टभेदनः। "नन्द्यादिभ्योऽनः" [५।१।५२] इति अनः॥७८॥

---

१. जे. प्रतौ—'दम्यमीति तः' इति पाठो नास्ति।

मार्द्वीकमपि मद्ये

मृद्वीकाया विकारो मार्द्वीकम् । "विकारे" [६।२।३०] इति अण् । मदस्य करणं मद्यम् । "मतमदस्य करणे" [६।१।१४] इति यः । तत्र । मदयित्नुः इरासवः च ।

अनुतर्षोऽपि चषके स्मृतः ।

अनु तृष्यति अनेन अनुतर्षः । घञ् । चषन्ति पिबन्ति अनेन चषकः । "दृकृ-नृमसृ०" [उ. २७] इति अकः । तत्र । अमरस्तु—अनुतर्षशब्दं सुरापरिवेषणपर्यायमाह ।

कुविन्दे तन्तुवायोऽपि

कुं विन्दति कुविन्दः । "निगवादेर्नाम्नि" [५।१।६१] इति शः । कुत्सिता विन्दवः—जलकणा अस्येति वा कुविन्दः, पृषोदरादित्वाद् वकारस्य वकारः । तत्र । तन्तुम्—तन्त्रातानम् वयति तन्तुवायः । "कर्मणोऽण्" [५।१।७२] इति अण् ।

वेमा वेमोऽपि कीर्त्यते ॥७९॥

"वेग् तन्तुसन्ताने" वयन्ति अनेन वेमा, वानदण्डः[1] । पुंक्लीबलिङ्गः । "सात्मन्नात्मन्वेमन्०" [उ. ९१६] इति मन् प्रत्यये निपात्यते । "रुक्मग्रीष्म०" [उ. ३४६] इति मे निपातनात् वेमः । कीर्त्यते—निगद्यते बुधैरिति गम्यम् ॥७९॥

रजको धावकोऽप्युक्तः

"रञ्जी रागे" रजति रजकः । "नृत्खनरञ्जः०" [५।१।६५] इति अकट् । "अकट्घिनोश्च०" [४।२।५०] इति नलोपः । "धावूग् गतिशुद्ध्योः" धावति वस्त्राणि धावकः । "नाम्नि पुंसि च" [५।३।१२१] इति णकः ।

पादत्राणं च पादुका ।

पादौ त्रायते अनेन पादत्राणम् । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट् । पादूरेव पादुका "ङ्यादीदूतः के" [२।४।१०४] इति ह्रस्वः ।

तैलिकस्तिलन्तुदोऽपि

तैलम् अस्त्यस्य तैली । स्वार्थिके के, तैलिकः । तैलम् विद्यतेऽस्य वा तैलिकः । "अतोऽनेकस्वरात्" [७।२।६] इति इकः । तिलम् तुदति तिलन्तुदः । "बहुविध्व-रुस्तिलात् तुदः" [५।१।१२४] इति खश् प्रत्ययः ।

रथकारोऽपि वर्धकिः ॥८०॥

---

१. प्रा. 'वानदण्डः' नास्ति ।

रथम् करोति रथकारः । "कर्मणोऽण्" [५।१।७२] इति अण् । वर्धयति–छिनत्ति काष्ठानीति वर्धकिः । "वर्धेरकिः" [उ.६२४] इति अकिः ॥८०॥

चित्रकरो लिखकश्च

चित्रम् करोति चित्रकरः । "संख्याऽहर्दिवा०" [५।१।१०२] इति टः प्रत्ययः । लिखति चित्राणि लिखकः । "घ्रुघून्दिरुचितिलिपुलि०" [उ.२९] इति किद् अकः ।

लेप्यकृल्लेपकोऽपि च ।

लेप्यम् करोति लेप्यकृत् । "लिपींत् उपदेहे" लिम्पति लेपकः । "नाम्नि पुंसि च" [५।३।१२१] इति णकः ।

कुतूहले विनोदोऽपि

कुत्सितम् तोहति कुतूहलः । "मुरलोरल०" [उ.४७४] इति अले निपात्यते । विनोदनम् विनोदः । घञन्तः ।

सौनिकः खट्टिकोऽपि च ॥८१॥

सूना प्रयोजनमस्य सौनिकः । "प्रयोजनम्" [६।४।११७] इति इकण् । "खट्टण् संवरणे" खट्टयति खट्टिकः । "कुशिकहृदिकमक्षिका०" [उ. ४५] इति इके साधुः । खट्टोऽस्त्यस्य वा । "अतोऽनेकस्वरात्" [७।२।६] इति इकः ॥८१॥

कूटयन्त्रे पाशयन्त्रम्

कूटेन– छलेन यन्त्र्यतेऽनेन कूटयन्त्रम्, तत्र । पाशेन–बन्धनग्रन्थिना यन्त्र्यते अनेन पाशयन्त्रम् ।

समौ चाण्डालपुक्कसौ ।

चण्डते चण्डालः । "ऋकृमृ०" [उ.४७५] इति आलः । चण्डमालम् मृषा अस्येति वा । यद् व्याडिः—

"चण्डमालं मृषा यस्येत्यर्थः शब्दवतां मतः" । [ ] इति ।

चण्डाल एव चाण्डालः । प्रज्ञाद्यण् । पुत्–कुत्सितम् कसति–याति पुक्कसः । पृषोदरादित्वात् दन्त्यान्तः । "चक चुक्कण् व्यथने" चुक्कयति चुक्कस इत्येके, "फनस०" [उ.५७३] इति असे निपात्यते । द्वितीयवर्गाद्यक्षरादिरयम् । श्वपचो डोम्बः, पुक्कसो मृतप इति अवान्तरभेदोऽत्र नाऽऽश्रितः ।

इत्थं तृतीयकाण्डस्य शिलोञ्छोऽयं समर्थितः ॥८२॥

इत्थम्—अमुना प्रकारेण त्रयाणाम् संख्यापूरणस्तृतीयः स चासौ काण्डश्च तृतीयकाण्डस्तस्य तृतीयकाण्डस्य श्रीहैमनाममालामर्त्यकाण्डस्य[1] अयम् उक्तत्वेन प्रत्यक्षः शिलोञ्छः समर्थितः—रचित इत्यर्थः ॥८२॥

इति श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीयश्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्तानीय-
वाचनाचार्यश्रीभानुमेरुगणिशिष्यमुख्योपाध्यायमिश्रश्रीज्ञानवि-
मलै[2]विनेयवाचनाचार्यश्रीश्रीवल्लभगणिविरचितायाम्
श्रीहैमनाममालाशिलोञ्छदीपिकायां तृतीय-
मर्त्यकाण्डस्य शिलोञ्छः समाप्तः ।

---

१. जे. प्रतौ 'श्रीहैमनाममालामर्त्यकाण्डस्य' इति पाठो नोपलभ्यते
२. प्रा. ज. प्रतौ—॰शिष्यमुख्यश्रीज्ञानविमलोपाध्याय॰ इति पाठः ।

चतुर्थः तिर्यक्काण्डः

अथ तिर्यक्काण्डस्य शिलोञ्छो विव्रियते—तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदेनै-केन्द्रियाः स्थावराः, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन त्रसाश्च कृमिप्रभृतयस्तिर्यञ्चो वक्ष्यन्ते। तत्र प्रथमं पृथिवीकायिकानाह[1]—

रत्नवती भुवि

रत्नानि विद्यन्तेऽस्यां रत्नवती। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" [७।२।१] इति मतुः। भवत्यस्याः सर्वम् इति भूः। "भ्यादिभ्यो वा" [५।३।११५] इति क्विप्। तस्याम्। इडा, अम्बा, उर्वरा अयं सर्वसस्यायाम्, भुवि अपि, दक्षा, स्थाया, कुडुमा, गूहतुः, सहुरिः, कर्वरी, अव्यथिषी च इत्यादयोऽपि।

दिवःपृथिव्यावपि रोदसी।

द्यौश्च पृथिवी च दिवःपृथिव्यौ। "दिवस्—दिवः पृथिव्यां वा" [३।२।४५] इति दिवः इत्यादेशः। रुदन्त्यनयोः रोदसी। "अस्" [उ.९५२] इति अस्। गौरा-दित्वाद् ङीः। क्लीबलिङ्गो द्विवचनान्तः। इदन्ताद् रोदसिशब्दाद् वा द्विवचने रोदसी। यदाह **उत्पलः**—"द्यावापृथिव्योर्द्विवचने रोदसिशब्दे इवर्णान्तादेशः पृषोदरादित्वात्" [ ] इति। रोदसीत्यव्ययमपि। द्यावाक्ष्मे जनित्वम्, नेत्वम् च।

माणिबन्धं माणिमन्तं सैन्धवे

मणिबन्धे गिरौ भवं माणिबन्धम्। मणिमन्ते गिरौ भवं माणिमन्तम्। उभयत्र "भवे" [६।३।१२३] इति अण्। सिन्धुनद्युपलक्षिते देशे भवं सैन्धवम्। "भवे" [६।३।१२३] इति अण्। पुंक्लीबलिङ्गः। तत्र।

वसुके वसु ॥८३॥

वसति वसु। "भृमृतॄत्सरितनिधन्यनिमनि०" [उ.७१६] इति उः प्रत्ययः स्वार्थिके के च, वसुकम्। वस्तकनाम लवणम्। तत्र। यदाह **मालाकारः**—"रौमके वसुकं वसु।" [ ] इति ॥८३॥

टङ्कणष्टङ्कणः

"टकुण् बन्धने" टङ्कयति टङ्कनः। "णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः" [५।३।१११] इति अनः। टङ्क्यते अनेन वा। "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट्। "पुन्ना-म्नि०" [५।३।१३०] इति घे, टङ्कोऽपि। टङ्कयति टङ्कणः। "चिक्कण—कुक्कण—कृकण०" [उ. १९०] इति अणे निपात्यते।

---

१. पृथिवीकायकानाह।

उपावर्तनं चापि नीवृति

उपावर्तन्तेऽस्मिन्निति उपावर्तनम् । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट् । नियतम् वर्तन्ते अस्यां नीवृत् । "गतिकारकस्य०" [३।२।८५] इति क्विपि दीर्घः । स्त्रीलिङ्गः । **अमरस्तु** पुंस्याह । तस्याम् । **अमरस्तु**—"नीवृज्जन-पदौ देशविषयौ तूपवर्तनम्" [२।१।८] इति भिन्नमाह । भङ्गाल-रमठ-वर्तनयश्च ।[1]

जङ्गलः स्याज्जाङ्गलोऽपि

जायन्ते स्थलानि अत्र जङ्गलः । "ऋजनेर्गोऽन्तश्च" [उ.४६७] इति अलः । गकारश्चान्तः । जङ्गल एव जाङ्गलः । प्रज्ञादित्वाद् अण् । निर्जलदेशनाम्नी ।

मालवन्मालको मतः ॥८४॥

मलन्ते धरन्ति भयम् अत्र मालम् । "मांक् माने, मीयते वा" "शामाश्याश-कि०" [उ.४६२] इति अलः । स्वार्थिके के, मालकः । पुंक्लीबलिङ्गः । ग्रामस्यान्त-रालेऽटवी । वदर्थः पूर्ववदवसेयः ॥८४॥

पत्तने पट्टनमपि

"पतॢ गतौ" पतन्ति विविधदेशपण्यान्यागत्य[2] अस्मिन्निति पत्तनम् नगरम् । "पत्तनम् रत्नभूमिः" इत्याहुः **अपरे**[3] । तत्र । "पट गतौ" पटन्ति अस्मिन्निति पट्टनम् । उभयत्र "वीपतिपटिभ्यस्तनः" [उ.२९२] इति तनः । पटन्ति अत्रेति पट्टुमोऽपि[4] । "कुन्दुम–लिन्दुम–कुङ्कुम–विद्रुम–पट्टुमादयः" [उ.३५२] इति 'कुम' प्रत्ययान्तो निपात्यते । मन्दिरम् अजिरम् च ।

कुण्डिने कुण्डिनापुरम् ।

स्यात्कुण्डिनपुरमपि

"कुडुङ् दाहे" कुण्ड्यते पापम् अत्र कुण्डिनम् । "श्याकठिखलिनल्यविकु-ण्डिभ्य इनः" [उ.२८२] इति इनः । तस्मिन् कुण्डिने । कुण्डिना च तत्पुरं च कुण्डि-नापुरम् । "विपिनाजिनादयः" [उ. २८४] इति इने निपातनात् । "कुण्डिन" इति **वामनः** प्राह । कुण्डिनम् च तत्पुरम् च कुण्डिनपुरम् । विदर्भनगरीनामानि ।

विपणौ पण्यवीथिका ॥८५॥

विपण्यन्तेऽस्यामिति विपणिः, वणिग्मार्गः, तत्र । यत् **शाश्वतः**—

---

१. ज. प्रतौ 'मङ्गलरपठवर्त्तनयश्च' इति पाठः । २. प्रा. प्रतौ 'विविधदेशपण्यान्यागत्य' इति पाठो नास्ति । ३. प्रा. प्रतौ 'पत्तनं रत्नभूमिरित्याहुरपरे' इति पाठो नास्ति । ४. जे. पट्टमः ।

"आपणः पण्यवीथी च द्वयं विपणिसंज्ञकम्" [ ] । स्त्रीलिङ्गः । "पदिपठि०" [उ. ६०७] इति इः । तस्याम् । पण्यस्य वीथिः पण्यवीथिः । स्वार्थिके के, पण्यवीथिका । वणिग्वीथी, हट्टवर्त्तनी च ॥८५॥

सुरुङ्गायां सन्धिरपि

सरति—गच्छति अनया सुरुङ्गा । "सर्तेः सुर्च" [उ. १०८] इति उङ्गः । तस्याम् । सन्धीयतेऽस्मिन् सन्धिः । "उपसर्गाद् दः किः" [५।३।८७] पुंलिङ्गः ।

गृहे धाममपि स्मृतम् ।

गृह्णाति पुरुषोपार्जितं द्रव्यम् इति गृहम् । "गेहे ग्रहः" [५।१।५५] इति कः । पुंक्लीबलिङ्गस्तत्र । दधाति आश्रयमस्मिन् इति धामम् । "अर्तीरिस्तुसुहु०" [उ. ३३८] इत्यादिना मः । क्लीबलिङ्गः । कुटीरः, अररः, अजिरम्, सात्रम्, पल्लिः अयं मुन्याश्रमव्याधयोरपि, वसिः, भविलः, विशिपम्, वैण्ट्रम् च । "हने रन् घ च" *[ ] इत्यनेन पाणिनीयसूत्रेण "हन् हिंसागत्योः" इत्यस्य 'घ' आदेशे रनि प्रत्यये घरोऽपि ।

उपकार्योपकर्यापि

उपक्रियते—उपष्टभ्यते उपकार्या । "ऋवर्णव्यञ्जन०" [५।१।१७] इति घ्यण् । "शिक्यास्याढ्यमध्य०" [उ. ३६४] इति ये निपातनात् उपकर्या । यद् वा, उपकरणम् उपकरः । अल् । तत्र साध्वी उपकर्या । "तत्र साधौ" [७।१।१५] इति यः । पटमण्डपादि राजसदनम् । उक्तं च—

'गृहस्थानं स्मृतं राज्ञामुपकार्योपकारिका' । [ ] इति ।

प्रासादे च प्रसादनः ॥८६॥

प्रसीदन्ति नयन-मनांसि अस्मिन्निति प्रासादः । "घञ्युपसर्गस्य०" [३।२।८६] इति दीर्घः । प्रसादयति प्रसादनः । देवभूपानां गृहम् ॥८६॥

शान्तीगृहं शान्तिगृहे

शान्त्यै गृहम् शान्तिगृहम् । तत्र । शान्तीगृहम् इत्यत्र बाहुलकाद् दीर्घः, "तिक्कृतौ नाम्नि" [५।१।७१] इति 'तिक्' प्रत्यये "इतोऽक्त्यर्थाद्" [२।४।३२] इति ङ्यां च शान्ती शान्तिस्तस्यै गृहम् इति वा । यदाह वाचस्पतिः—

"आथर्वणं शान्तिगृहं शान्तीगृहकमप्यदः" [ ] । इति ।

प्राङ्गणं त्वङ्गणं मतम् ।

*मुद्रितपाणिनीयसूत्रेष्विदं सूत्रं नैवावलोक्यते, अतः शोधनीयमिदं सूत्रम् ।

"अगु गतौ" प्राङ्गन्ति अत्र प्राङ्गणम् । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट् । अङ्गन्ति अत्र अङ्गणम् । "तॄकृशॄ०" [उ. १८७] इति अणः । मतम्—सम्मतम् ।

कपाटवत् कवाटोऽपि

कम्पते—चलति कपाटः । "कपाटविराट०" [उ. १४८] इति—आटे निपात्यते । कम्—शिरः पाटयति प्रविशतामिति वा कपाटः । "जपादीनां पो वः" [२।३।१०५] इति पस्य वत्वे कवाटः । त्रिलिङ्गः । वदर्थः पूर्ववदवसेयः ।

पक्षद्वारे खटक्किका ॥८७॥

पक्षस्य द्वारम् पक्षद्वारम्, पार्श्वद्वारम् । यदाह कात्यः—

"प्रच्छन्नमन्तरद्वारं पक्षद्वारं तदुच्यते" । [ ] इति । तत्र । "खट काङ्क्षे" खटयते—काङ्क्ष्यते खटका । "निष्कतुरुष्क०" [उ. २६] इति कान्तो निपात्यते। स्वार्थिके के, खटक्किका । "ङ्यादीदूतः के" [२।४।१०४] इति ह्रस्वः ॥८७॥

कुशूलवत् कुसूलोऽपि

"कुशच् श्लेषणे" कुश्यते धान्येन कुशूलः । तालव्यमध्यः । "कुसच् श्लेषे" कुस्यते धान्येन कुसूलः । दन्त्यमध्यः । उभावपि "कुलिपुलिकुसिभ्यः किद्" [उ. ४९०] इति किद् ऊले साधू । वदर्थः पूर्ववत् । धान्यकोष्ठनाम्नी । बलतः धान्यावरोधश्च ।

समुद्गे तु पुटो मतः ।

"उब्जत् आर्जवे" समुब्ज्यते समुद्गः । "भावाऽकर्त्रोः" । [५।३।१८] घञ्, उद्गादित्वाद् गत्वम् । न्यङ्क्वादित्वाद् वा निपात्यते। समुद्गच्छतीति वा । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । तत्र । पुटयते-श्लिष्यते पुटः । "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५] इति कः । भूषणाद्यावपनम् ।

पेटायां स्यात् पेटकोऽपि पेडाऽपि कृतिनां मते ॥८८॥

"पिट् शब्दे च, चकारात् संहतौ" पेटति पेटा । लिहादित्वाद् अच् । पेटति पेटकः । "छिदिभिदिपिटेर्वा" [उ. ३०] इति अकः । पेट एव वा । पुंक्लीबलिङ्गः । स्त्रियां पेटिका इत्यन्यः । केचिदेनं पेडा इति सिद्ध्यर्थं डान्तं पठन्ति । अमरस्तु— "पीडण् गहने" इत्यस्य पेडा इत्याह । कृतिनाम्—विदुषाम् मते ॥८८॥

पवन्यपि समूहन्याम्

पूयते–शोध्यते गृहम् अनयेति पवनी । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट् । समुह्यते रजोऽनया समूहनी, बहुकरी । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट् तस्याम् ।

अयोनिं मुसलं विदुः ।

न विद्यते योनिः अस्य अयोनिः । अयो–लोहम् नयति–प्राप्नोति मुखे वा । पृषोदरादित्वात् साधुः । अयसा–लोहेन अनिति–प्राणितीति वा । "पदि-पठि०" [उ. ६०७] इत्यादिशब्दाद् इः । यदाह वैजयन्तीकारः—

"अयोनिर्मुसलोऽस्त्री स्यात्" [ ] । इति । मुस्यते–खण्ड्यतेऽनेन मुसलः । "तृपिवपिकुपिकुशि०" [उ. ४६८] इत्यादिना किद् अलः । मुहुः बारंवारं स्वनम् लाति, मुहुर्मुहुर्लसतीति वा मुसलः । पृषोदरादित्वात् साधुः । क्षोताऽपि । ऋकारान्तोऽयम् । मुषलोऽपि ।

कण्डोलके पिटकोऽपि

"कडुङ् मदे" कण्ड्यते कण्डोलः । वंशदलादिमयं भाण्डम् । तत्र । "कटिपटिकण्डिगण्डि०" [उ. ४९३] इति ओलः । "पिट शब्दे च" पेटति पिटम् । "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५४] इति कः । पुंक्लीवलिङ्गः । स्वार्थिके के, पिटकः । पिटति वा पिटकः । "छिदिभिदिपिटेर्वा" [उ. ३०] इति किद् अकः ।

चुल्ल्यामन्तीति कथ्यते ॥८९॥

"चुल्ल हावकरणे" चुल्लतीव ज्वालाभिरिति चुल्लिः । "किलिपिलिपिशि-चिटि०" [उ. ६०८] इत्यादिना इः । तस्याम् "अतु बन्धने" अन्तति–बध्नाति वह्निम् अन्तिः । "पदिपठिपचि०" [उ. ६०७] इत्यादिशब्दाद् इः प्रत्ययः । "इतोऽक्त्यर्थाद्" [२।४।३२] इति ङ्याम्, अन्ती । यदाह मालाकारः—

"अन्त्यधिश्रयणी भवेत्" । [ ] इति ।

केचिदेनम् इन्नन्तमिच्छन्ति, तत्रैवम्, अन्तोऽस्यास्तीति अन्ती । पुंलिङ्गः । 'इतिः' अवधारणे, कथ्यते–उच्यते विद्वद्भिरिति गम्यम् । सूर्मी इत्यपि ॥८९॥

खजः खजाकोऽपि मथि ।

"खज मन्थे" खजति मथ्नाति खजः । "अच्" [५।१।४९] इति अच् प्रत्ययः । खजन्ति अनेनेति खजाकः । "शलिबलिपतिवृति०" [उ. ३४] इति आकः । मथ्यतेऽनेन मन्थाः । "पथिमन्थिभ्याम्" [उ. ९२६] इति इन् । तस्मिन् । मथि मन्थाने खजपोऽपि च ।

विष्कम्भः कुटकोऽस्य तु ।

अस्य मथः, विष्कभ्नाति-बध्नातीति विष्कम्भो दण्डको यस्मिन् बद्ध्वा मन्था आकृष्यते । "कुटत् कौटिल्ये" कुटति कुटः । "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५४] इति कः । स्वार्थे के, कुटकः । णके प्रत्यये वा कुटादित्वाद् गुणाभावः । मन्दीरम् देश्याम् ।

अगोऽपि पर्वते

न गच्छति अगः, स्थावरत्वात् । "क्वचित्" [५।१।१८१] इति डः । अगति वा । "अच्" [५।१।४९] इति अच् । पर्व्यते—पूर्यते शिलाभिः पर्वतः । "दपृभृमृशीयजि०" [उ. २०७] इत्यादिना अतः । तत्र । अविः, जीमूतः, बलाहकः, दर्दरः, माहूरः, सहिरः आदिदन्त्योऽयम्, वर्द्धसानः मध्यदन्त्योऽयम्, वटम्बः, शयानकः तालव्यादिरयम्, सहान्यः दन्त्यादिरयम्, धृत्वा नन्तोऽयम्, सद्रिः सद्रुश्च उभावपि दन्त्यादी ।

कौञ्जः क्रौञ्चवद् मन्यते बुधैः ॥९०॥

कुञ्जस्य—पर्वतैकदेशस्याऽयं कौञ्जः । "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण् । "क्रुञ्चू गतौ" क्रुञ्चति क्रुञ्चः । प्रज्ञाद्यणि, क्रौञ्चः । बुधैः-विद्वद्भिः मन्यते ॥९०॥

कक्खटयपि खटिन्यां स्यात्

"कक्ख हसने" कक्खतीव श्वेतत्वात् कक्खटी । "दिव्यवि०" [उ. १४२] इति अटः । खटः आकाङ्क्षकोऽस्त्यस्याः खटिनी, खटी, तस्याम् ।

ताम्रमौदुम्बरं विदुः ।

ताम्यति वह्निना ताम्रम् । "चिजिशुसि०" [उ.३९२] इति रः । उनत्ति क्लिद्यते वह्निना उदुम्बरम् । "तीवरधीवरपीवर०" [उ. ४४४] इत्यादिना वरट् प्रत्ययः । उन्देर्धातोश्च किद् उनन्तः । उद्गतं वरम् उदुम्बरम् इति **नैरुक्ताः** । तत उदुम्बरमेव औदुम्बरम् । प्रज्ञादित्वाद् अण् । नागमधुकेऽपि ।

शातकौम्भमपि स्वर्णे

शतकुम्भे गिरौ भवं शातकौम्भम् । अनुशतिकादित्वाद् उभयपदवृद्धिः । शोभनो वर्णोऽस्य स्वर्णम् । पृषोदरादित्वात् वलोपः । तत्र । चाम्पेयः, अवष्टम्भः, किरीटम्, कपीटम्, पीयुः, पुष्कलम्, रुचिष्यः, शादः तालव्यादिरयम्, सानसिः, रीतम्, पारक्, रुक्मलम्, नन्दयन्तः, मदयित्नुः इत्यादयोऽपि ।

पारदश्चपलोऽपि च ॥९१॥

पारम् ददाति पारदः । "चप सान्त्वने" चपति चपलः । "मृदिकन्दि-कुण्ड०" [उ. ४६५] इति अलः । अस्थैर्याद् वा ॥९१॥

रसजातं रसाग्र्यं च तुल्ये दार्वीरसोद्भवे ।

रसाद्–दारुहरिद्राया रसाद् जातम्–उत्पन्नं रसजातम् । रसेन–दारुहरिद्राक्वाथेन अग्र्यम् श्रेष्ठम् रसाग्र्यम् । रसाग्रे साधु वा । "तत्र साधौ" [७।१।१५] इति यः । तुल्ये–समाने । दार्वी–दारुहरिद्रा तस्या रसः–क्वाथः, तस्माद् उद्भवतीति दार्वीरसोद्भवस्तत्र । लोके "रसवति" इति प्रसिद्धिस्तन्नाम्नी ।

माक्षिके वैष्णवोऽपि स्यात्

माक्षिकम् मधु तद्वर्णं माक्षिकम्, अञ्जनविशेषः । तत्र । विष्णोरयं वैष्णवः । "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण् । अत एव अजस्य विष्णोर्नाम अस्य अजनामकः ।

गोपित्तं हरितालवत् ॥९२॥

गोपित्तमिव गोपित्तम् । अत एव गोदन्तः । हरेः पीतवर्णस्य तालः प्रतिष्ठाऽस्य हरितालम् । हरिताम्–पीतत्वम् अलति भूषयति वा । वदर्थः पूर्ववदवसेयः । जैरम् अपि । यद् धन्वन्तरिः—

"हरितालं च गोदन्तं पीतकं नटमण्डनम् ।
आलं च तालं जैरं च पिञ्जरं विस्रगन्धिकम् ।" ॥९२॥

मनःशिलायां नैपाली शिला च सुधिया मता ।

मनोवाच्या शिला मनःशिला, तस्याम् । नेपालदेशे भवा नैपाली । "भवे" [६।३।१२३] इति अण् । "अणञेय०" [२।४।२०] इति ङीः । "शिलत् उञ्छे" तालव्यादिः । शिलति शिला । "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५४] इति कः । सुधिया–पण्डितेन कथितेत्यर्थः ।

शृङ्गारमपि सिन्दूरे

शृणाति शृङ्गारम् । "द्वारशृङ्गार०" [उ. ४११] इति आरे निपात्यते । शृङ्गारहेतुत्वाद् वा शृङ्गारम् । स्यन्दते सिन्दूरम्, तत्र । "सिन्दूरकर्च्चूर०" [उ. ४२०] इति ऊरे निपात्यते । गान्धारपङ्कः, रक्तरेणुः च । यद् धन्वन्तरिः—

"सिन्दूरं रक्तरेणुश्च नागरक्तं च नागजम् ।
शृङ्गारभूषणं श्रीमद् वसन्तोत्सवमण्डनम् ॥"

कुरुविन्दे तु हिङ्गुलुः ॥९३॥

कुरुम् विन्दति कुरुविन्दः । "नि-गवादेर्नाम्नि" [५।१।६१] इति शः । "हिंद् गतिवृद्धयोः" हिनोति हिङ्गुलुः । "गूहलुगुग्गुलुकमण्डलवः" [उ. ८२४] इति वहुवचनाद् 'आलु' प्रत्यये निपात्यते ॥९३॥

बोलो गोपो रसोऽप्युक्तः

बोल्यते बोलः । "वुलण् निमज्जने" । गां पाति गोपः । रसति रस्यते वा रसः । भीमवद् इति वा । गोपः रसः । पिण्टोऽपि । उक्तः—कथितो विद्वद्भिरिति गम्यम् ।

रत्नं माणिक्यमित्यपि ।

रमते मनोऽत्र रत्नम् । "रमेस्त् च" [उ. २६४] इति 'न'प्रत्ययः, तश्चान्तादेशः । तच्च अष्टविधम् । यद् वाचस्पतिः—

"हीरकं मौक्तिकं स्वर्णं रजतं चन्दनानि च ।
शंखश्चर्म च वस्त्रं चेत्यष्टौ रत्नस्य जातयः" ॥

प्रशस्यो मणिर्मणिकः[1] । मणिक एव माणिक्यम् । भेषजादित्वाद् ट्यण् । क्लीबलिङ्गः । "इतोऽक्त्यर्थात्" [२।४।३२] इति ङ्याम्, 'मणी' इत्यपि । पारक्, पुलिकः, श्रावतानः च तालव्यादिरयम्, पुंलिङ्गा एते ।

पद्मरागे शोणरत्नम्

पद्मस्य इव रागोऽस्य पद्मरागः । पुंक्लीबलिङ्गस्तत्र । शोणम् च तत् रत्नम् च शोणरत्नम् । "शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः" [२।९।९२] इति अमरः ।

वैराटो राजपट्टवत् ॥९४॥

विराटदेशे भवो वैराटः । "भवे" [६।३।१२३] इति अण् । पट्टेन राजते राजपट्टः । राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः । वदर्थः[2] पूर्ववज्ज्ञेयः ॥९४॥

नीलमणौ महानीलम्

नीलवर्णो मणिः नीलमणिः । महच्च तत् नीलम् च महानीलम् । क्लीबलिङ्गः । "इन्द्रनीलं महानीलम्" इति वैजयन्ती ।

---

१. प्रा. प्रतौ—'प्रशस्यो मणिर्मणिक' इति पाठो नास्ति । २. जे. प्रतौ 'वदर्थः' नास्ति ।

। समाप्तोऽयं पृथिवीकायः ।

अथ अप्कायमाह—

कबन्धमपि वारिणि ।

"कैं शब्दे" कायति कायते वा कम् । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । बध्नाति वायुं बध्यतेऽनेन वा बन्धम् । जलवाची कशब्दोऽभिधानचिन्तामणिसूत्रे उक्त एवाऽस्ति, इह तु पुनः कशब्दकथनं कबन्धभेददर्शनार्थमिति । वार्यते वारि । क्लीवलिङ्गः । तत्र । "स्वरेभ्य इः" [उ. ६०६] इति इः । शरम्, क्षौद्रम्, व्योम, कुशम्[1], वरुणः, बाहुलकात् पुंस्त्वमस्य । यदाह गौडः—

"पानीये यादसां पत्यौ वरुणो वरुणद्रुमे" ।

कटीरम्, तीवरम्, मीरम्, द्रमलम्, जलापम्, खजपम्, नेपम्, उलपम्, कृषीटम् मध्यमूर्धन्योऽयम् । कृपीटम्, चन्दिरम्, सदनिः, जीवथः, जीवातुः च ।

धूमिका धूममहिषी धूमरी मिहिका समाः ॥९५॥

धूमो विद्यतेऽस्यां धूमिका । "अतोऽनेकस्वरात्" [७।२।६] इति इकः । धूमप्रतिकृतिरिति वा धूमिका । "तस्य तुल्ये कः संज्ञाप्रतिकृत्योः" [७।१।१०८] इति कः । धूयतेऽनया वा । "कुशिक०" [उ. ४५] इति इके निपात्यते । महिषीव महिषी ताद्रूप्यात्, धूमोपलक्षिता महिषी धूममहिषी । धूमो विद्यतेऽस्यां धूमरी । "मध्वादिभ्यो रः" [७।२।२६] इति रः । मेहति मिहिका । "कुशिकहृदिक०" [उ. ४५] इति इके निपात्यते ॥९५॥

अकूवारोऽपि जलधौ मकरालय इत्यपि ।

जलम् धीयतेऽस्मिन् जलधिः समुद्रः । तत्र । न कुम्—पृथ्वीम् पिपर्त्ति अकूपारः । बाहुलकाद् दीर्घः । "जपादीनां पो वः" [२।३।१०५] इति वत्वे अकूवारः । मकराणाम्—मत्स्यानाम् आलयो मकरालयः । कुवलयः, मीवरः, मीरः, विकुम्रः, नभसः, पथित्वम्, प्यात्वम्, स्तिभिः, तृपत्, पुरुः, धूत्वा, प्रेनः दल्मिः च ।

निम्नगायां ह्रादिनी स्यात्

निम्नम् गच्छति निम्नगा, नदी, तस्याम् । ह्रादोऽस्त्यस्यां ह्रादिनी । वर्त्तरी, वेनिः, जित्वरी, नुविः, भुविः च, एतौ सकारान्तौ स्त्रीलिङ्गौ ।

---

१. जे. प्रतौ 'कुशम्' इति नास्ति ।

जह्नुकन्याऽपि जाह्नवी ॥९६॥

जह्नोः—सगरात्मजस्य कन्या जह्नुकन्या। जह्नुना पीता श्रोत्रेण मुक्ता इति लौकिकाः। जह्नोरियं जाह्नवी, गङ्गा, जह्नुनाऽवतारितत्वात्। "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण्। "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङीः ॥९६॥

कलिन्दपुत्री कालिन्दी

कलिन्दाद्रेः पुत्री कलिन्दपुत्री, कलिन्दतनयाऽपि। कलिन्दाद्रेरियं कालिन्दी। "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण्। "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङीः। यमुनानाम्नी। सूर्यतनया, शमनस्वसा च।

रेवा मेकलकन्यका।

रेवते वेगेन गच्छति रेवा। मेकलाद्रेः कन्यका मेकलकन्यका। सोमोद्भवाऽपि।

चन्द्रभागा चन्द्रभागी

चन्द्रेण भागतो न्यस्ता चन्द्रभागा, चन्द्रभागी नदी। शोणादिपाठबलाद् विकल्पेन ङीः। अणप्रत्ययान्ताद् नद्याम् इति एके। तत्रैवं व्याख्या—चन्द्र इव भागो यस्य स चन्द्रभागो गिरिः, ततः प्रभवति आगता वा चान्द्रभागा, चान्द्रभागी। "प्रभवति" [६।३।१५७] इति अण् "तत आगते" [६।३।१४९] इति अण् वा। अणन्तत्वात् नित्यं प्राप्ते विकल्पः। अनद्यास्तु नित्यं ङीः स्यादेव। यथा—चान्द्रभागी छाया। अन्ये तु अणन्तादेवार्थभेदेन विकल्पमिच्छन्ति। नद्याम् 'आप्' प्रत्ययोऽन्यत्र 'ङी' प्रत्ययः। चान्द्रभागा नदी[1], चान्द्रभागी[2], वनराजिरिति।

गोमती गौतमीत्यपि ॥९७॥

गावः जलानि सन्ति अस्यां गोमती। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः [७।२।१] इति मतुः प्रत्ययः। गोतमस्य ऋषेरियं गौतमी। "तस्येदम् [६।३।१६०] इति अण्। "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङीः ॥९७॥

चक्राण्यपि पुटभेदाः

क्रियते तृणादिसंघातनाश एभिरिति चक्राणि। "कृगो द्वे च" [उ. ७] इति अः प्रत्ययः धातोश्च द्वे रूपे भवतः। पुटम्—तृणादिसङ्घातम् भिन्दन्ति पुटभेदाः।

---

१. जे. प्रतौ 'चान्द्रभागा नदी' शब्दो नास्ति। २. जे. चान्द्राभागी।

पङ्के चिक्खल्ल इत्यपि ।

पञ्च्यते–विस्तार्यते जलेन पङ्कः । पुंक्लीबलिङ्गः । न्यङ्क्वादित्वात् कत्वम् । तत्र । खेलति मलम् अत्र चिक्खल्लः । "भिल्लाच्छभल्ल०" [उ. ४६४] इति ल्ले निपात्यते । "चिक् च करोति खल्लम् च भवति चिक्खल्लः" इति नैरुक्ताः । देश्याम् अप्ययम् । खञ्जनः, खलनः, प्रालेयः च ।

उद्घातनमुद्घाटनं घटीयन्त्रं प्रकीर्त्तितम् ॥९८॥

ऊर्ध्वम् हन्यतेऽनेन उद्घातनम् । "ञ्णिति घात्" [४।३।१००] इति घात् इत्यादेशः । ऊर्ध्वम् घात्यते वा अनेन उद्घातनम् । हन्तेः स्वार्थणिजन्तस्य अनटि रूपमिति कौटल्यः । उद्घाट्यते[1]–प्रकाश्यते जलमनेन उद्घाटनम् । "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट् । घट्यादीनां यन्त्रम्, घट्यो यन्त्र्यन्ते ऽत्रेति वा घटीयन्त्रम्, मालाख्यम्, येन कूपादेर्जलमूर्ध्वम् वाह्यते ॥९८॥

सरस्तडाकस्तटाकोऽपि

सरति जलम् अत्र सरः । "अस्" [उ. ९५२] इति अस् । "तडण् आघाते" ताड्यते[2] जलमस्मिंस्तडाकः । "तट उच्छ्राये" तटति जलमत्र तटाकः । उभावपि "शलिबलिपतिवृतिनभिपटितटितडि०" [उ. ३४] इत्यादिना आके प्रत्यये साधू । खानिः, खनिः, खात्रम् च ।

अथ तल्लश्च पल्वले ।

तत् लाति–गृह्णाति तल्लः, तलति वा । "भिल्लाच्छभल्ल०" [उ. ४६४] इति ल्ले निपात्यते । देश्याम् अप्ययम् । "पल गतौ" पल्यते पल्वलः । पुंक्लीबलिङ्गः । "शमिकमिपलिभ्यो वलः" [उ. ४९९] इति वलः । तत्र पल्वले, अकृत्रिमोदकस्थानविशेषे ।

। समाप्तोऽयम् अप्कायः ।

अथ तेजःकायमाह—

आशयाश–शुष्म–बर्हिर्–बर्हिरुत्थ–दमूनसः ॥९९॥
अग्नौ

आशयम्–आधारम् अश्नाति–अत्ति आशयाशः । "अच्" [५।१।४९] इति अच् । शुष्यति अनेन शुष्मा । यथा–

1. उद्घाट्य । 2. जे. ताड्य ।

"शुष्मणि प्रणयनाभिसंस्कृते" । [ ] इति । "सात्मन्नात्मनूवेमन्०" [उ. ९१६] इति मनि निपात्यते । बृंहति वर्धते इति बर्हिः । "बंहिबृंहेर्नेलुक् च" [उ. ९९०] इति इस् नकारस्य च लुक् । पुंसि । यद् माला—"बर्हिरुक्तो बृहद्-भानुः" । इति । यथा—बर्हिर्मुखा देवाः । बर्हिः दर्भस्तस्मादुत्तिष्ठतीति बर्हिरुत्थः । "स्थापास्नात्रः कः" [५।१।१४२] इति कः । "दमूच् उपशमे" दाम्यति जलेन दमूनाः । "दमेरुनसूनसौ" [उ. ९८७] इति 'ऊनस्' प्रत्ययः । अगति ऊर्ध्वम् याति अग्निः । "वीयुसुवह्यगिभ्यो निः" [उ. ६७७] इति निः । तत्र । तमोहः, भास्करः, प्रभाकरः, पर्परीकः, मर्मरीकः, सृणीकः, यजतः, पचतः, पचनः, संस्पृशानः, मन्दसानः, पिङ्गलः च ।

क्षणप्रभा विद्युत्

क्षणम्—क्षणमात्रम् प्रभा अस्याः क्षणप्रभा । विद्योतते विद्युत् । दिद्युत्, सम्पा दन्त्यादिरयम्, तालव्यादिस्तु **अभिधानचिन्तामणौ** उक्त एव । क्षिपण्युः, क्षिपणुः, स्रर्जूः च ।

। समाप्तोऽयं तेजस्कायः ।

अथ वायुकायमाह—

गन्धवाह-सदागती ।

वायौ

गन्धस्य वाहोऽस्य गन्धवाहः, गन्धम् वहति वा । "कर्मणोऽण्" [५।१।७२] इति अण् । सदा गतिः—गमनमस्य सदागतिः । "वा गतिगन्धनयोः" "उवै शोषणे" वाति वायति वा द्रव्याणि वायुः । "कृवापाजि०" [उ. १] इति उण् । तत्र । प्राक्-षिक—प्रतीक—क्षिपक—बलाहक—शलाहक—सृणीक—वीक—तरण्ड-सरण्ड-प्राणन्त-वहन्त-शतेर-धूसर-जीर-वीध्र-चुप्र-बताल--मृमल--चलुष-चरण्यु--सरयु-वहति-वायति-अरति-ईष्म-जूर्णि तरुणैतश-आशुशुक्षणयोऽपि ।

। समाप्तोऽयं वायुकायः ।

अथ वनस्पतिकायमाह—

चरणपोऽपि द्रुः

चरणैः मूलैः पिबति चरणपः । "स्थापास्नात्रः कः" [५।१।१४२] इति कः । "द्रु गतौ" द्रवति द्रुः । "द्रुद्रुम्याम्" [उ. ७४४] इति नुः । अङ्घ्रिपः, उद्भिजः,

वनस्पतिः, पलक्षुः, मलक्षुः, स्फिविः, रवणः, अरडः, सरडः, स्यमीकः, नेपः, पीतुः च।

त्वक् त्वचा

"त्वचत् संवरणे" त्वचति सिरामांसादि त्वक् । क्विप् । "अजादेः" [२।४।१६] इति आपि, त्वचा ।

स्तबके पुनः ॥१००॥

गुलुञ्छु-लुम्बी

स्तूयते स्तबको गुच्छस्तत्र । दृकृनॄसृधृवृमृस्तु०" [उ. २७] इति अकः । गुडचते गुलुञ्छुः । "केवयुभुरण्यध्वर्य्वादयः" [उ. ७४६] 'उ' प्रत्यये निपात्यते । "लुबु तुबुण् अर्दने" लुम्बयति लुम्बिः । "स्वरेभ्य इः" [उ. ६०६] इति इः ।

माकन्दरसालावपि चूतवत् ।

"कदुङ् क्रदुङ् वैक्लव्ये"[1] वैक्लव्यम्–कातरता । वैकल्यम् इति चन्द्रः । मा निषेधार्थकमव्ययम् । मा कन्दते माकन्दः । रसम् अलति रसम् आलाति वा रसालः । च्योतति रसं चूतः । चूष्यत इति श्रीभोजो निरवोचत् । "पुतपित्त०" [उ. २०४] इति उते निपात्यते । वदर्थः पूर्ववदवसेयः । मदिरासख-सचेष्ट-कामाङ्गा अपि । यदाह–

"आम्रश्चूतो रसालश्च सचेष्टो मदिरासखः ।
कामाङ्गः सहकारश्च परपुष्टो मदोत्सवः" ॥

किङ्किराते कुरुण्टक–कुरण्डकावपि स्मृतौ ॥१०१॥

कुत्सितम् किरति–क्षिपति किङ्किरातः । "कृवृकलि०" [उ. २०९] इति आतक् । किञ्चित् किरातः किङ्किरातः, तत्र । "रुटु स्तेये" कौ रुण्टति कुरुण्टकः । "को रुरुण्टिरण्टिभ्यः" [उ. २८] इति अकः प्रत्ययः । कौ रमते कुरण्डः । "पञ्चमाड्डः" [उ. १६८] इति डः, स्वार्थे के, कुरण्डकः ॥१०१॥

कर्कन्धूरपि कर्कन्धौ

करोति कर्कन्धूः । "कृगः कादिः" [उ. ८४९] इति "डुकृग् करणे" इत्यस्मात् ककारादिः अन्धूः प्रत्ययः । यद् वा, कर्को लोहितः अन्धुः, कर्कस्य अन्धुरिव वा कर्कन्धूः । "उतोऽप्राणिनश्चायुरज्ज्वादिभ्य ऊङ्" [२।४।७३] इति ऊङि दीर्घः । स्त्रीलिङ्गः । पक्षे कर्कन्धुः, कुवली । पुंस्त्रीलिङ्गोऽयम् । तत्र । उभावपि पृषोदरादित्वात् साधू । स्निग्धपत्रा, राष्ट्रवृद्धिकरी, गोपघोण्टा, स्निग्धच्छदा, च । यदाह इन्दुः–

1. प्रा. प्रतौ वैकल्य ।

"बदरी स्निग्धपत्रा च राष्ट्रवृद्धिकरी तथा" । चन्द्रोऽपि—

"बदरी गोपघोण्टा च घाण्टा घुट्टा च कोकिला ।
स्निग्धच्छदा कोलफला" इति ।

ह्रस्वादिश्चाटरूषकः ।

अटन् रूषयति अटरूषः । पृषोदरादित्वात् साधुः । ह्रस्वः—दीर्घेतरः अकारोऽस्य ह्रस्वादिः । स्वार्थिके के, अटरूषकः । वैद्यमाता, सिंही, सिंहमुखी च । यदाह अमरः—वैद्यमातृसिंह्यौ तु वाशिका ।

वृषोऽटरूषः सिंहास्यो वासिको वाजिदन्तकः ॥ [२।४।१०३]

वज्रे स्नुहि–स्नुहाऽपि स्यात्

वज्र इव वज्रो भेदकत्वात् तत्र । स्नुह्यति क्षीरम् स्नुहिः । स्त्रीलिङ्गः । "नाम्युपान्त्य०" [उ. ६०९] इति किद् इः । स्नुहा इति वैद्याः । "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५४] इति कः । सुधा, गुडा, समन्तदुग्धा च । आह च—

"स्नुक् सुधा च महावृक्षो गुडा निस्त्रिंशपत्रकः ।
समन्तदुग्धा गण्डीरः सिहुण्डा वज्रकन्दकः" ॥

प्रियालोऽपि पियालवत् ॥१०२॥

"प्रीङ्च् प्रीतौ" प्रीयते प्रियालः । "पीङ्च् पाने" पीयते रसोऽस्य पियालः । उभावपि "कुलिपिलिविशिविडिमृणिकुणिपीप्रीभ्यः किद्" [उ. ४७६] इति आले साधू । चारोलीनाम्नी[1] । वदर्यः प्राग्वदवसेयः । खरस्कन्धः, सन्नकद्रुः, धनुःपटश्च । यदाह—

"पियालश्च खरस्कन्धश्चारो बहुलवल्कलः ।
सन्नकद्रुश्चापपटो ललनस्तापसप्रियः" ॥ इति ॥१०२॥

नार्यङ्गोऽपि नारङ्गे

नारीम् अङ्गति-याति नार्यङ्गः । अत एव योषिद्वक्त्राधिवासनः । आह च—

"नारङ्गस्त्वक्सुगन्धः स्यान्नागरङ्गो मुखप्रियः ।
स चैरावतकः प्रोक्तो योषिद्वक्त्राधिवासनः" ॥

इति । "नॄश् नये" नृणाति नारङ्गः । "सृवृनृभ्यो णित्" [उ. ९९] इति अङ्गः । तत्र ।

---

१ प्रा. प्रतौ राजादनमाम्नी ।

अक्षे विभेदक इत्यपि ।

अक्षति-व्याप्नोति अक्षः । तत्र । बिभेति विभेदकः । यदाह—

विभीतकः कर्षणफलो वासन्तोऽक्षः कलिद्रुमः ।
संवर्त्तको भूतवासः कर्षो हार्यो विभेदकः ॥

दैन्यः, मधुबीजः, धर्मद्वेषो, कल्कः च ।

भवेत् तमालस्तापिच्छः

ताम्यति तमालः । "ऋकृमृ०" [उ. ४७५] इति आलः । तापिनश्छादयति तापिच्छः । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । कालस्कन्धः, रजनः, वसुः च ।

निर्गुण्ठी सिन्दुवारवत् ॥१०३॥

"गुठुण् वेष्टे[1]" "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५४] इति के गुण्ठः, निष्क्रान्ता गुण्ठाद् वेष्टनादिति निर्गुण्ठी । स्यन्दते सिन्दुवारः । "द्वारश्रृङ्गार०" [उ. ४११] इति आरे निपात्यते । वदर्थः पूर्ववद् भावनीयः । सिन्दुकः, सिन्धुकः, इन्द्रसुरसः, इन्द्राणी, नीलपुष्पम्, शीतसहः च । आह च—

अथ सिन्दुकः ।
सिन्दुवारेन्द्रसुरसौ निर्गुण्डीन्द्राणिकेत्यपि ॥

अन्योप्याह—

सिन्दुवारः सितपुष्पः सिन्धुकः सिन्धुवारितः ।
नीलपुष्पं शीतसहो निर्गुण्डी नीलसिन्दुकः ॥
॥१०३॥

जपा जवा

जपतीव जपा । "जपादीनां पो वः" [२।३।१०५] इति पस्य वत्वे जवा । ओड्रपुष्पम् ।

मातुलिङ्गो मातुलुङ्गोऽपि कीर्तितः ।

मा तोल्यते मातुलिङ्गः, मातुलुङ्गः । "माङस्तुलेरुङ्गक् च" [उ. १०६] इत्यनेन माङ्पूर्वात् "तुलण् उन्माने" इत्यस्माद् उङ्गक्–इङ्गक्प्रत्यययोः साधू । यदाह—

---

१ प्रा. गुठिण् वेष्टे ।

फलपूरो बीजपूरः केसरी बीजपूरकः ।

बीजकः केसराम्लश्च मातुलुङ्गस्तु पूरकः ।

बीजपूर्णः, अम्लकेसरः, वराम्लः, मध्यकेसरः, कृमिघ्नः, गन्धकुसुमः, शीधुपादपः च ।

धत्तूर इव धुत्तूरः

दधाति पीतवर्णं धत्तूरः । धुनोति धातून् धुत्तूरः । उभावपि "सिन्दूरकर्चूरपत्तूरधुत्तूरादयः" [उ. ४३०वृत्तौ] इति ऊरे निपात्येते । "धुवो द्विरुक्तस्तोऽन्तो ह्रस्वश्च" [उ. ४३०वृत्तौ] । उन्मत्तः, कितवः, धूर्तः, मातुलः, मदनः च । यदाह—

धत्तूरकः स्मृतो धूर्तो देवता कितवः शठः ।

उन्मत्तको मदनकतरुस्तलफलस्तथा ॥

अमरोऽप्याह—

उन्मत्तः कितवो धूर्तो धत्तूरः कनकाह्वयः । [२।४।७७] मातुलो मदनश्च [२।४।७८] धुर्धूरोऽपि । यदाह यादवः—उन्मत्तधूर्त्तधुर्धूराः ।

वंशस्त्वक्सार इत्यपि ॥१०४॥

वमति वंशः । "पादावमि०" [उ. ५२७] इति शः । त्वचि सारः त्वक्सारः। "अद्व्यञ्जनात्०" [३।२।१८] इति विकल्पेन सप्तमीलुप् । कर्मारः, तेजनः च । यदाह—

वंशे त्वक्सार-कर्मार-त्वचिसार-तृणध्वजाः ।

शतपर्वा यवफलो वेणु-मस्कर-तेजनाः ॥

॥१०४॥

ह्रीबेरं केश-सलिलपर्यायैः स्मर्यते बुधैः ।

जिह्रेतीव ह्रीबेरम्, वालकम् । "शतेरादयः" [उ. ४३२] इति केरे निपात्यते । केशसदृशत्वात् केशम्, वालः कच इत्यादयः । तृड्घ्नत्वात् सलिलम्, जलम् । तत्पर्यायैः स्मर्यते-कथ्यते बुधैः । यदाह—

वालकं वारि तोयं च ह्रीबेरं जलकं रुचम् ।

केशं वज्रमुदीच्यं च पिङ्गमाचमनं कचम् ॥

पङ्कजिन्यां कमलिनी सरोजिनी कुमुद्वती ॥१०५॥

पङ्कजम् अस्त्यस्यां पङ्कजिनी, तस्याम् । कमलम् अस्त्यस्यां कमलिनी । सरोजम् अस्त्यस्यां सरोजिनी । एवं सरोरुहिणी, अम्भोजिनी, अब्जिनी, राजीविनी, अरविन्दिनी इत्यादि । सर्वेऽप्येते "मन्माऽब्जादेर्नाम्नि" [७।२।६७] इति 'इन्' प्रत्यये साधवः । कुमुदम् अस्त्यस्यां कुमुद्वती । "नडकुमुद०" [६।२।७४] इति डित् मतुः ॥१०५॥

बिसप्रसूनं कमले

बिसात् प्रसूनम् जातं बिसप्रसूनम् । बिसात् प्रसूयते वा । "सूयत्यादि०" [४।२।७०] इति क्तयोः तस्य नत्वम् । कम्–अम्भः अलति–भूषयति कमलम् । काम्यते श्रिया वा । "मृदिकन्दि०" [उ. ४६५] इति अलः, तत्र ।

कुमुत्कुमुदवन्मतम् ।

कौ मोदते कुमुत् । क्विप् । कौ मुद्–हर्षोऽस्य वा । काम्यते वा कुमुदम् । "कुमुद–बुद्बुदा०" [उ. २४४] इति उदे निपात्यते । कौ मोदते वा कुमुदम्–श्वेतकमलम् । "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५४] इति कः । वदर्थः प्राग्वत्, मतम्–सम्मतम् ।

शेपालं च जलनीली

शेते अम्भसि शेपालम् । "शीङस्तलकपालवालण्वलण्वलाः" [उ.५०१] इति 'पाल'प्रत्यये साधुः । जलम् नीलति जलनीली णीलवर्णे ।

सातीनोऽपि सतीनवत् ॥१०६॥

सीदन्ति अनेन सातीनः, सतीनश्च । "दिननग्न०" [उ. २६८] इति ने निपात्यते । उभावपि त्रिपुटाख्यधान्यनाम । वदर्थः पूर्ववद् भावनीयः ॥१०६॥

कुल्मासवत्कुल्माषोऽपि

कोलति–संस्त्यायति कुल्मासः । दन्त्यान्तः । "कलिकुलिभ्यां मासक्" [उ.५८४]इति मासक् । कुलेन मस्यति परिणमति वा पृषोदरादित्वात् । "कुल बन्धुसंस्त्यानयोः" कोलति कुल्माषः । अर्द्धस्विन्नो यवादिः, धान्यविशेष इति एके मूर्द्धन्यान्तः । "कुलेश्च माषक्" [उ.५६३] इति माषक् ।

गवेधुका गवीधुका ।

"गुङ् शब्दे" गूयते गवेधुका, गवीधुका च । "गुङ ईधुकैधुकौ" [उ. ७४] इत्यनेन पूर्वस्य एधुकः इतरस्य ईधुकः प्रत्ययः । गवा अम्भसा एधते वा गवेधुः । स्त्रीलिङ्गः । "भृमृतॄ०" [उ. ७१६] इति बहुवचनाद् उः, ततः स्वार्थिके के, गवेधुका–हलादनुत्पन्नमन्नम् ।

कणिशं कनिशम्

"कण शब्दे" कणति वातेन कणिशम्, सस्यमञ्जरी । "कन दीप्त्यादौ" कनति कनिशम् । उभावपि "कुलिकनिकणि०" [उ. ५३५] इति किद् 'इश' प्रत्यये साधू । पुंक्लीबलिङ्गौ ।

रिद्धे धान्ये त्वावासितं मतम् ॥१०७॥

राध्यति स्म रिद्धम्, सिद्धमित्यर्थः। सुसम्पन्नम् इत्येके। पृषोदरादित्वाद् इत्वम्। तस्मिन् रिद्धे धान्ये–सस्ये आ समन्तात् वास्यते–मील्यते स्म आवासितम्-निष्पन्नम् ॥१०७॥

हालाहलं तथा हालम्

हालेव हलतीति हालाहलम्[1]। पुंसि, वामनः। क्लीबे लक्ष्यम्।

यथा—स्निग्धं भवत्यमृतकल्पमहो कलत्रम्।
हालाहलं विषमिवाऽप्रगुणं तदेव।

एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात् हालहलोऽपि। यथा—

"काममपायि मयेन्द्रियकुण्डै–र्यदपि दुष्कृतहालहलौघः"। हलति–विलिखति जठरम् हालम्। वा ज्वलादित्वाद् णः। पुंक्लीबलिङ्गावुभौ।

मुस्तायां मुस्तकोऽपि च।

मुस्यति—खण्डयति मुस्ता। त्रिलिङ्गः। "शीरीभूदूमूघृपा०" [उ. २०१]. इति कित् तः। तत्र। स्वार्थिके के, मुस्तकम्। पुंक्लीबलिङ्गः। यद् अमरः–

कुरुविन्दो मेघनामा मुस्ता मुस्तकमस्त्रियाम्। [२।४।१५९]

यदाह–धन्वन्तरिः—

मुस्तमम्बुधरो मेघो घनो राजकसेरुकः।
भद्रमुस्तो वराहोऽब्दो गाङ्गेयः कुरुविन्दकः।

। समाप्तोऽयं वनस्पतिकायः।

पृथिव्यादीनेकेन्द्रियानभिधाय द्वीन्द्रियानाह—

कृमिः क्रिमिरपि

करोति खर्जूं कृमिः। "कृभूभ्यां कित्" [उ. ६९०] इति कित् मिः। "क्रमू पादविक्षेपे" क्रामति[2] अपाने कृमिः। "क्रमितमि०" [उ. ६१३] इति कित् इः प्रत्ययः। धातोः अकारस्य च इकारः। शर्शरीकः च। कृमिनाम्नी। स्यमीकः, सीमिकः, करण्डः, सरण्डः, रमठः, मरठः च। इत्यादीनि कृमिजातिनामान्यपि प्रक्रमात् ज्ञेयानि।

गण्डूपदः किञ्चुलुकोऽपि च ॥१०८॥

गण्डवः–ग्रन्थयः पदानि अस्य गण्डूपदः भूलता। यस्य "अलसिक"

---

१. प्रा. हालाहलः। १. प्रा. काम्यति।

इति प्रसिद्धिः। "चुलुम्प उच्छेदे" किञ्चित् चुलुम्पति किञ्चुलुकः। "कञ्चुकांशुक-नंशुकपाकुक०" [उ. ५७] इति उके निपात्यते ॥१०८॥

शम्बूका अपि शाम्बूकाः

शाम्यन्ति शम्बूकाः, शाम्बूकाः। "शम्बूकशाम्बूकवृधूकमधूक०" [उ. ६१] इति ऊके उभावपि निपात्येते। "शमेर्वोऽन्तो दीर्घश्च वा" स्यात् [उ. ६१ वृत्तौ]। शङ्खः, अञ्जपर्व, कणीचयोऽपि।

। उक्ता द्वीन्द्रियाः।

चतुरिन्द्रियानाह—

वृश्चिको द्रुत इत्यपि।

"ओवृश्चैत् छेदने" वृश्चति वृश्चिकः। "पापुलिकृषिकुशिवृश्चिभ्यः" [उ. ४१] इति किद् इकः। "द्रु गतौ" द्रवति द्रुतः। द्रूयते स्म वा। शालूकोऽपि।

भसलो मधुकरोऽली च

भासते गुञ्जन् भसलः। "मुरलोरल०" [उ. ४७४] इति अले निपात्यते। देश्यामप्ययम्। मधु करोति मधुकरः। "अच्" [५।१।४९] इति अच्। अलति शोभते इत्येवंशीलो अली—भ्रमरः नन्तः अयम्, गदयित्नुः, रसायुः, रवणः, मधुपः, षट्पदः, षट्चरणः च। सर्वेऽप्येते स्त्रीपुंसलिङ्गाः।

। उक्तौ चतुरिन्द्रियौ।

अथ पञ्चेन्द्रियान् स्थलचर—खचर—जलचरभेदभिन्नान् क्रमेणाह—

पिक्को विक्कः

"पिजुकि सम्पर्चने" सम्पर्चनम्—मिश्रणम्। पिङ्क्ते पिक्कः। "निष्क-तुरुष्कः०" [उ. २६] इति के निपात्यते। "विचूंपी पृथग्भावे" विङ्क्ते अवयवान् विक्कः। "विचिपुषि०" [उ. २२] इति कित् कः। विंशतिवर्षो हस्ती।

करिः करी ॥१०९॥

करोति प्रमोदम् करिः। "स्वरेभ्य इः" [उ. ६०६] इति इः। करः—शुण्डाऽस्त्यस्य करी। हस्ती, चन्दिरः, कूचः, कुन्त्रः, वघूलः, वेञ्चुलः[1], पीलुः, पपीः, शद्रिः, सद्रिः, मदारः, अङ्गूषः, पीनुः, अभ्रतिः, काणूरः च ॥१०९॥

व्यालो व्याडोऽपि

विविधम् आलम्—अनर्थोऽस्माद् व्यालः। व्यडति—हन्तुं समर्थो भवति व्याडः, दुष्टगजः।

---

१. प्रा. वञ्चूलः।

उपवाह्योऽप्यौपवाह्ये

उप—समीपे वाह्यते उपवाह्यः, राजवाह्यो हस्ती । "ऋवर्णव्यञ्जना०" [५।१।१७] इति घ्यण् । उपवाह्य एव औपवाह्यः । स्वार्थे अण् प्रत्ययः ।

अपराऽवरा ।

अपरभागभवत्वात् अपरा । स्त्रीक्लीबलिङ्गः । "जपादीनां पो वः" [२।३।१०५] इति पस्य वत्वे अवरा । गजस्य पश्चाद्भागस्तन्नाम्नी ।

शृङ्खलो निगलोऽन्दूश्च

शृणाति बन्धेन शृङ्खलः । त्रिलिङ्गः । "श्रो नोऽन्तो ह्रस्वश्च" [उ. ४९८] इति, "शॄश् हिंसायाम्" इत्यस्मात् खलः प्रत्ययो नकारोऽन्तो ह्रस्वश्च भवति । निगल्यते—बध्यतेऽनेन निगलः । अन्दति—बध्नाति अन्द्यते वा अन्दूः । "कृषिचमि०" [उ. ८२९] इति ऊः ।

कक्षा कक्ष्यापि

"कष हिंसायाम्" कषति कक्षा । "मावावदि०" [उ.५६४] इति सः । कक्षायाम्—मध्यप्रदेशे भवा कक्ष्या, अयं योपान्त्यः । वस्त्रनाम्नी ।

वाल्हिके ॥११०॥

वाल्हीकः

वाल्हिकेषु देशे भवो वाल्हिकः, वाल्हिकेषु देशे भवो वाल्हीकः । वाल्हिक-देशोत्पन्नो घोटकः ।

वल्ग-वागे च

"वल्ग गतौ" वल्गति अनेन वल्गः । पुंलिङ्गः । "व्यञ्जनाद् घञ्" [५।३।१३२] इति घञ् । "वा गतिगन्धनयोः" वाति गच्छति अनया वागा । "गम्यमि-रम्यजिगद्यदि०"[उ.९२] इति बहुवचनाद् गः । रश्मिनाम्नी ।

खलिनं च खलीनवत् ।

"खल सञ्चये च, चकाराच्चलने" खलति खलिनम् । "श्याकठिखलि०" [उ. २८२] इति इनः । पुंक्लीबलिङ्गः । खलति—चलति खलीनम् । "खलिहिंसिभ्या-मीनः" [उ.२८६] इति ईनः । वदर्थः पूर्ववदवसेयः । कविकनाम्नी ।

मयुरुष्ट्रे

"डुमिग्ॄ प्रक्षेपणे" मिनोति मयुः । "मिवहिचरिचटिभ्यो वा" [उ.७२६] इति उः प्रत्ययः । मरौ भवो मर्यः । "भवे" [६।३।१२३] इति यः, मरिशब्दस्य इदन्तत्वात् । "छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्य०" [३।१।१२३]इति

पाणिनीयसूत्रेण वा "मृंत् प्राणत्यागे" इत्यस्मात् 'यत्'प्रत्यये मर्य इत्यपि। उष्यते—दह्यते मरौ उष्ट्रः। "सूमूखन्युषिभ्यः किद्" [उ.४४९]इति कित् त्र। तत्रद्व। दीर्घजङ्घः, ग्रीवी, भेरः, धूम्रः च, स्वार्थिके के, धूम्रकोऽपि।

गोपतौ तु शण्ड इत्वर इत्यपि ॥१११॥

गवां पतिः गोपतिः गोवृषः, तत्र। "शमूच् उपशमे" शाम्यति शण्डः। "पञ्चमाड्डः" [उ.१६८] इति डः। अयनशील एति—गच्छति वा इत्वरः॥ "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [५।२।७७] इति वरप् ॥१११॥

स्थौरी स्थूर्यपि

स्थूराणाम्—पश्चाज्जङ्घाभागानामिदं स्थौरम्—बलम् तदस्यास्तीति स्थौरी। स्थूराः—जङ्घाप्रदेशाः सन्त्यस्य स्थूरी, पृष्ठवाह्यः। यत्पृष्ठे जलादिकमुह्यते।

ककुदे ककुत् कुकुदमित्यपि।

ककते ककुदम्। पुंक्लीबः। "ककेर्णिद्वा" [उ.२४३] इति, "ककि लौल्ये" इत्यस्माद् उदः प्रत्ययः। ककते ककुत्। बाहुलकाद् उद्। "कुकि वृकि आदाने" कोकते कुकुदम्। "कुमुदबुदबुदादयः" [उ.२४४] इति उदे निपात्यते। वृषभस्कन्धकूटनामानि।

नैचिकं नैचिकी च स्यात्

नीचैश्चरति नैचिकम्। "चरति" [६।४।११] इति इकण् "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङ्याम्, नैचिकी। "प्रायोऽव्ययस्य" [७।४।६५] इति अन्त्यस्वरादिलोपः। वृषभशिरोनाम्नी।

मलिनी बालगर्भिणी ॥११२॥

मलोऽस्त्यस्यां मलिनी। "मलादीमसश्च" [७।२।१४] इति इन् प्रत्ययः। बाला चासौ गर्भिणी च बालगर्भिणी। मलिनी बालगर्भिणी [ ]इति **माला** ॥११२॥

पवित्रं गोमये

पूयतेऽनेन पवित्रम्। "ऋषिनाम्नोः करणे" [५।२।८६] इति इत्रः। पवित्रत्वाद् वा। गोः पुरीषम् गोमयम्। पुंक्लीबलिङ्गः। "गोः पुरीषे" [६।२।५०]इति मयट्। गोविट्, तत्र।

छागे शुभः

छ्यति छागः। "गम्यमि०" [उ. ९२]इति गः। तत्र शोभते शुभः। "नाम्युपान्त्य०" [६।१।५४] इति कः। "शुभच्छागवस्तच्छगलका अजे" [२।९।७६]इति

अमरः । वृष्णिः, वरुटः, वरुडः, गण्डयन्तः, अमतिः च[1] ।

अथ भषकः शुनिः ।

भषति भुक्कति भषकः । "तिकृकृतौ नाम्नि" [५।१।७१]इति अकट् । "भष भर्त्सने" भर्त्सनम्–कुत्सितशब्दकरणम्, अतो भर्त्सने शब्दकर्मकोऽयम् । शुनति गच्छति शुनिः । "नाम्युपान्त्य०" [उ.६०९] इति किद् इः । दशेरः, भटिलः, भण्डिलः, चण्डिलः, लेहडः, गृत्सः च ।

सरमा देवशुन्यां च

सरति गच्छति सरमा । "सृपृप्रथिचरि०" [उ.३४७] इति अमः । देवानाम् शुनो देवशुनी, तस्याम् । विशेषवृत्तिरयं सामान्येऽप्यभिधीयते ।

यमरथोऽपि सैरिभे ॥११३॥

यमस्य रथो यमरथः । सीयते–बध्यते सैरिभः । "सि-टिकिभ्यामिभः सैर- टिट्टौ च" [उ. ३३२] इत्यनेन इभः प्रत्ययः । "षिंगट् बन्धने" इत्यस्य दन्त्यादिः, 'सैर' इत्यादेशश्च । सीरिभिः–दान्तैर्भाति सीरिभः, तस्यायमिति वा । "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण्, तस्मिन् सैरिभे–महिषे गर्वरोऽपि ॥११३॥

पारिन्द्र इव पारीन्द्रः

पारिषु शक्तेषु इन्द्रः पारिन्द्रः ।। पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वः । ह्रस्वाभावे च पारीन्द्रः । सिंहः, नदनुः, मृगेन्द्रः, कपिलाक्षः च । इव शब्दो वदर्थवाचकः ।

शरभेऽष्टापदोऽपि च ।

"शॄश् हिंसायाम्" शृणाति हस्तिनम् शरभः । "कृशॄगॄशलिकलि०" [उ.३२९] इति अभः, तत्र । अष्टौ पदानि अस्य अष्टापदः । "नाम्नि" [३।२।७५] इति दीर्घः । कर्वरोऽपि ।

सृगालवच्छृगालोऽपि

सरति गच्छति भयेन सृगालः । "सर्तेर्गोऽन्तश्च" [उ.४७८] इति आलः । असृगाऽऽलीयते, असृग् गिलतीति वा सृगालः । पृषोदरादित्वात् । शृणाति शृगालः, तालव्यादिरयम् । "चात्वालकङ्काल०" [उ.४८०] इति आले निपात्यते ।

प्लवगः प्रवगोऽपि च ॥११४॥

प्लवेन गच्छति प्लवगः । प्रवेण गच्छति प्रवगः । प्लवप्रवौ गतिविशेषवाचकौ ।

---

१. प्रा. अमन्तिश्च ।

"नाम्नो गमः खड्डौ च०" [५।१।१३१] इति डः। प्लवप्रवंगमौ अपि वानर-नाम्नी ॥११४॥

वानायुरपि वातायुः

वानम्-शुष्कम् अयते वानायुः, वानमेति वा। वातमेति वातायुः हरिणः। उभयत्र "कृवापाजि०" [उ. १] इति–उण्। वातमजः, हर्षुलः, रौहिषः, श्येतः, सरासरः, मरूकः च।

उन्दरोऽपि च मूषके।

"उन्दप् क्लेदने" उनत्ति उन्दरः। "जठरऋकरमकर०" [उ.४०३] इति अरे निपात्यते। "लुप् मूष स्तेये" मूषति मूषकः। "नाम्नि पुंसि च" [५।३।१२१] इति णकः। तत्र। किरिः, मुष्मः, कुषाकुः, कर्वः च।

ह्रीकुर्वनविडालोऽपि

"ह्रींक् लज्जायाम्" जिह्रेतीव आखुवधसङ्कोचेनेति ह्रीकुः। "ह्रियः किद् रो लश्च वा" [उ. ७५०] इति कित् कुः। वनस्य-अरण्यस्य बिडालो वनबिडालः। दरुटः, दरुडः, बिलालः च।

गोकर्णोऽपि भुजङ्गमे ॥११५॥

गावौ–दृशावेव कर्णौ अस्य गोकर्णः। भुजेन कौटिल्येन भुज इव वा गच्छतीति भुजङ्गमः सर्पः, तत्र। "नाम्नो गमः खड्डौ च०" [५।१।१३१] इति खः। काणूरः शृदरः, दशेरः, दश्रः, तालव्यमध्याविमौ, सृप्मा, सृत्वा, मर्क्कः, सूर्पः च दन्त्यादिरयम् ॥११५॥

जलव्यालेऽलीगर्दोऽपि

जलस्य व्यालो जलव्यालः। अली-भ्रमर इव गर्दति--शब्दायते अलीगर्दः।

शेषः स्यादेककुण्डलः।

श्लिष्यति अस्मिन् धात्रीति शेषः। "श्लिषेः शे च" [उ. ५४३] इति षः। शिष्यत इति वा। शेते अस्मिन् हरिः इत्यन्ये। एकं कुण्डलमस्य एककुण्डलः।

आशीराशी च दंष्ट्रायाम्

आशास्यते–हिंस्यते अनया आशीः। यदाह—

"आशीस्तालुगता दंष्ट्रा यया विद्धो न जीवति।" इति।

क्रुत्सम्पदादित्वात् क्विप्, ततः "क्वौ" [४।४।११९] इति इस् आदेशः। पृषोदरादित्वाद् रकारलोपे आशी। यथा—आशीविषः। उभावपि स्त्रियाम्। दंष्ट्रायां सर्पस्येति शेषः।

निर्मोके निर्लयन्यपि ॥११६॥

निर्मुच्यते निर्मोकः। घञ् प्रत्ययः। तत्र निर्मोके—सर्पत्वचि। नितरां लीयते अस्यां निर्लयनी। "करणाऽऽधारे" [५।३।१२९] इति अनट्। निहाकोऽपि ॥११६॥

। उक्ताः स्थलचराः पञ्चेन्द्रियाः।

अथ खचरानाह—

विहगे पतत्रिरपि

विहायसा गच्छति विहगः। "नाम्नो गमः खड्डौ च०" [५।१।१३१] इति डः प्रत्ययो विहायसो विहः च, तत्र। पतति—गच्छति पतत्रिः। "पतेरत्रिः" [उ. ६९७] इति अत्रिः। वर्वरीकः, पतेरः, कथेरः, विहडः, तिन्तिडीकः, कवाकः, हीकः, श्येत्यः तालव्यादिरयम्, रवणः, जर्ण्णः, किकीदिविः, कुक्कणः, मणचः, रुवथः, अणसः, शररः[1] तालव्यादिरयम्, चपुषः, वारङ्गः च।

पिच्छं पिञ्छमपि स्मृतम्।

पीयते पिच्छम्। "पीपूडो ह्रस्वश्च" [उ. १२५] इति छक्। "गुलुञ्छपिलिपिञ्छैधिच्छादयः" [उ. १२६] इति 'छे'निपातनात् पिञ्छम्। स्मृतम्—कथितम्।

परपुष्टान्यभृतौ च पिके

परेण पुष्यते स्म परपुष्टः। अन्येन भ्रियते—पुष्यते अन्यभृतः। काकीपुष्टत्वात्। पिबति चूतरसम् पिकः। "पापुलिकृषि०" [उ. ४१] इति किद् इकः। अपि कायति वा पृषोदरादित्वात्। तत्र। घोषयित्नुः, पोषयित्नुः, वश्वथः, उदिश्वः च।

बर्हिणि बर्हिणः ॥११७॥

बर्हाणि सन्ति अस्य बर्ही, मयूरः तत्र। "शिखादिभ्य इन्" [७।२।४] इति इन्। बर्हाणि सन्त्यस्य बर्हिणः। "फलबर्हात्०" [७।२।१३] इति इनः। "बृह वृद्धौ" बर्हतीति वा। "द्रुहवृहिदक्षिभ्य इणः" [उ. १९४] इति इणः। मोरः, सहसानः, जीवथः, आपतिकः, मरूकः, कमठः च ॥११७॥

वायसे बलिपुष्टोऽपि

"वयि गतौ" वयते वायसः। "सृवयिभ्यां णित्" [उ. ५७०] इति असः। तत्र। बलिना पुष्टः बलिपुष्टः। अत एव बलिभुक्, वैश्वदेवभागार्हत्वात्। वञ्चथः, काणुकः, नभाकः, वर्विः च।

---

१. प्रा. शराटः।

द्रोणोऽपि द्रोणकाकवत् ।

"द्रुणत् गतिकौटिल्ययोः च" चकारात् हिंसायाम् द्रुण्यते द्रोणः । घञ् । "द्रुं गतौ" द्रवति वा । "द्रोर्वा" [उ. १८४] इति णः । द्रोणश्चासौ काकश्च द्रोणकाकः । वृद्धकाकोऽद्रिकाको वा । **यदाहुः**—

द्रोणकाको दग्धकाको वृद्धकाको वनाश्रयः ।

इति । वदर्थः प्राग्वदवसेयः ।

सारस्यां लक्ष्मणी

सरति सारसः । "सृवयिभ्यां णित्" [उ. ५७०] इति असः । सरसि भवो वा । "भवे" [६।३।१२३] इति अण्, "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङ्याम् सारसी, तस्याम् । लक्ष्मणस्य–सारसस्य स्त्री लक्ष्मणी । "धवाद् योगादपालकान्तात्" [२।४।५९] इति ङीः ।

क्रौञ्च्यां क्रुञ्चा

"क्रुञ्च् गतौ" क्रुञ्चति क्रुङ्, क्विप्, क्रुङेव क्रौञ्चः । प्रज्ञादित्वाद् अण्, "अणञेये०" [२।४।२०] इति ङ्याम्, क्रौञ्ची, तस्याम् । अजादित्वाद् आपि, क्रुञ्चा ।

चाषे दिविः किकिः ॥११८॥

किकिदीविरपि प्रोक्तः

चष्यते –भक्ष्यते श्येनेन चाषः, तत्र । दीव्यति दिविः । "पदिपठि०" [उ. ६०७] इत्यादिना इः । "कैं शब्दे" कायति शुभम् किकिः । "कायः किरिच्च वा" [उ. ६२३] इति किः प्रत्ययो धातोश्च इकारान्तादेशः । स्त्रीलिङ्गः । किकीति कुर्वन् दीव्यति किकिदीविः । "छविछिविस्फविस्फिवि०" [उ. ७०६] इति 'वि' प्रत्ययो निपातनात् । किकिपूर्वाद् दीव्यतेः दीर्घश्च । "किकिदिविसंज्ञश्चाषः" इति **वोपालितेन** सर्वे ह्रस्वाः पठिताः । दीव्यतीति दीविरपि । अनेनैव 'वि' प्रत्यये निपात्यते ।

टिट्टिभे टीटिभोऽपि च ।

"टिकि गतौ" टेकते टिट्टिभः । "सिटिकिभ्यामिभः०" [उ. ३३२] इति इभः । टिकेश्च टिट्ट् इत्यादेशः । टिट्टीति भाषते वा । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । टी टीति कुर्वन् भाति–दीप्यते भाषते वा टीटिभः । "क्वचित्" [५।१।१७१] इति डः । उच्छीथोऽपि ।

कलविङ्के–कुलिङ्कोऽपि

कलते शब्दायते कलविङ्कः। "कलेरविङ्कः" [उ. ६५] इति 'अविङ्कः' प्रत्ययः। चटकस्तत्र। "कुल बन्धुसंस्त्यानयोः"। कोलति कुलिङ्कः। "कुलिचिरिभ्यामिङ्कक्" [उ. ६४] इति इङ्कक्। स्वार्थिके के, कुलिङ्कक इत्ययमुक्तोऽभिधानचिन्तामणौ।

दात्यूहे कालकण्ठकः ॥११९॥

दात्योहोऽपि

ददाति आनन्दम् दात्यूहः। "दस्त्यूहः" [उ.५९४] इति त्यूहः, तत्र। कालः कण्ठोऽस्य कालकण्ठः। स्वार्थिके के, कालकण्ठकः। ददाति आनन्दम् दात्योहः। बाहुलकात् 'त्योहः' प्रत्ययः।

बलाका बकेरुका बिसकण्टिका।

बलम् अकति बलाका। "बल प्राणनधान्यावरोधयोः" बलति वा। "शलिबलिपति०" [उ. ३४] इति आकः। बकैरुच्यते बकेरुका। घञि, पृषोदरादित्वात् साधुः। बिसमिव कण्टोऽस्याः बिसकण्टिका।

मेधाव्यपि शुके

मेधा विद्यतेऽस्य मेधावी। "अस्तपोमायामेधास्रजो विन्" [७।२।४७] इति विन्। शवति शुकः। "विचिपुषि०" [उ. २२] इति कित् कः। "शुक गतौ" शोकति गच्छति वा। "अच्" [५।१।४९] इति अच्।

तैलपायिकायां निशाटनी ॥१२०॥

तैलम् पिबतीति तैलपायिका—णकः प्रत्ययः—नित्यमास्यविकासात्। निशायाम् अटति–गच्छति निशाटनी। "अनट्" [५।३।१२४] इति अनट्। वल्गुलिकानाम्नी ॥१२०॥

कपोते पारावतोऽपि

"कबृङ् वर्णे" कब्यते कपोतः। "कबेरोतः प् च" [उ.२१७] इति ओतः। धातोर्बकारस्य पत्वं च, तत्र। पारम् आपतति पारापतः। "जपादीनां पो वः" [२।३।१०५] इति पस्य वत्वे पारावतः।

उक्ताः खचराः पञ्चेन्द्रियाः।

अथ जलचरानाह—

मत्स्ये मच्छः

माद्यति जलेन मत्स्यः। "मदेः स्यः" [उ. ३८३] इति स्यः, तत्र। "मदैच् हर्षे" माद्यति पानीयेन मच्छः। "तुदिमदिपद्यदि०" [उ. १२४] इति 'छक्' प्रत्ययः।

अथ तन्तुणे ।

स्मृतो वरुणपाशोऽपि

तन्तुवत् तुणति–कुटिलीभवति तन्तुणः–पृषोदरादित्वात्–ग्राहस्तत्र । वरुणस्येव पाशोऽस्य वरुणपाशः ।

नक्रे शङ्कुमुखोऽपि ॥१२१॥

न न क्रामति नक्रः, कुम्भीरः । "नञः क्रमिगमि०" [उ. ४] इति डिद् 'अः' प्रत्ययः । नखादित्वाद् एकस्य नञो लोपः अपरस्य अदभावः । तत्र । शङ्कोः–कीलकस्येव मुखमस्य शङ्कुमुखः ॥१२१॥

उहारः कूर्मः

"उहतुहदुह अर्दने" ओहर्ति[1] अर्दयति उहारः । "द्वारशृङ्गार०" [उ. ४११] इति आरे निपात्यते । "नाम्युपान्त्य०" [५।१।५४] इति के । उहः पीडा तम् इयर्ति–प्राप्नोतीति वा । किरति कुरति वा[2] कूर्मः । "रुक्मग्रीष्म०" [उ. ३४६] इति 'मे' निपात्यते । पुटीरः, पीथः च ।

इत्येष तिर्यक्काण्डः शिलोञ्छितः ।

इति–अमुना प्रकारेण एष–उक्तत्वेन प्रत्यक्षः तिर्यक्काण्डः श्रीहैमनाममालाचतुर्थकाण्डः शिलोञ्छितः शिलोञ्छीकृत इत्यर्थः ।

इति श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीय–श्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्तानीय-
वाचनाचार्यश्रीभानुमेरुगणिशिष्यमुख्य–श्रीज्ञानविमलो-
पाध्यायविनेय-वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिविरचितायाम्
श्रीहैममनाममालाशिलोञ्छटीकायाम्
चतुर्थतिर्यक्काण्डस्य **शिलोञ्छः** समाप्तः ।

---

१ ज. ओहयति । २ जे. 'कुरति वा' नास्ति ।

पञ्चमो नारककाण्डः

अथ पञ्चमनारककाण्डस्य शिलोञ्छो विव्रियते—

नारकास्तु नैरयिकाः

नरके भवा नारकाः। "भवे" [६।३।१२३] इति अण्। निरये भवा नैरयिकाः। "भवे" [६।३।१२३] इति इकण्। यौगिकत्वात् नारकिक–नारकीयादयोऽपि।

पाताले तु तलं रसा ॥१२२॥

पतन्ति अस्मिन् पातालम्। "पतिकठिभ्यो णित्" [उ. ४७९] इति आलः। पातम् अलतीति वा। तलति तलम्। "अच्"। रस्यते रसा। भीमो भीमसेन इति न्यायाद् वा। तलम् रसा ॥१२२॥

इति पञ्चमकाण्डस्य शिलोञ्छोऽयं समर्थितः।

इति अमुना प्रकारेण श्रीहैमनाममालायाः पञ्चमनारककाण्डस्य अयम् उक्तत्वेन प्रत्यक्षः शिलोञ्छः समर्थितः—विरचित इत्यर्थः।

इति श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीय–श्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्ता-
नीय–वाचनाचार्यश्रीभानुमेरुगणिशिष्यमुख्य–श्रीज्ञान-
विमलोपाध्यायविनेय–वाचनाचार्यश्रीवल्लभ-
गणिविरचितायां श्रीहैमनाममालाशिलोञ्छ-
टीकायां पञ्चमनारककाण्डस्य
शिलोञ्छः समाप्तः।

षष्ठः सामान्यकाण्डः

उक्ता देवाधिदेवा मुक्ताः, संसारिणश्चतुर्गतयो देवा मर्त्यास्तिर्यञ्चो नारकाश्च क्रमादसाधारणाङ्गसहिताः पञ्चभिः-पञ्चभिः काण्डैरिदानीं तत्साधारणनामाभिधायिषष्ठसामान्यकाण्डस्य शिलोञ्छो विव्रियते—

जीवोऽपि चेतने

"जीव प्राणधारणे" जीवति जीवः । अच् । चेतनाशीलश्चेतनः । व्यञ्जनान्तत्वाद् "इङितः०" [५।२।४४] इति अनः । चेतयते वा । "रम्यादिभ्यः" [५।३।१२६] इति कर्त्तरि अनट् । तत्र । अत्कः, अन्नः च ।

जन्तौ प्राणी

"जनैचि प्रादुर्भावे" जायते जन्तुः । पुंक्लीबलिङ्गस्तत्र । "कृसिकमि०" [उ. ७७३] इति तुन् । प्राणाः सन्ति अस्य प्राणी । प्राणवान्, मरतः, मर्तः, अमतः, कणी-चिः, मन्दसानः, वयोधाः च ।

जन्मोऽपि जन्मनि ॥१२३॥

जायते जन्मः । "रुक्मग्रीष्म०" [उ. ३४६] इति मान्तो निपात्यते । "मन्०" [५।१।१४७] इति मनि जन्म उत्पत्तिस्तत्र । सुवनः, योनिः, जर्त्तः च । प्रादुः इति जन्मवाचि अव्ययम् ॥१२३॥

जीवातुर्जीविते

जीव्यते अत्रेति जीवातुः । पुंक्लीबलिङ्गः "जीवेरातुः" [उ. ७८२] इत्यनेन "जीव प्राणधारणे" इत्यस्माद् 'आतुः' प्रत्ययः । जीव्यतेऽत्रेति जीवितम् प्राणाः, तत्र । जिगत्नुः, जिगम्नुः मरठः, अरुः, सन्तोऽयम्, अनुः उकारान्तोऽयम्, गयः च ।

अथायुः पुंस्युदन्तोऽपि चायुषि ।

एति गच्छति अनेन गत्यन्तरमित्यायुः । "कृवापाजि०" [उ. १] इति उण् । उदन्त इति उकारान्तः । एति-आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गतेर्निष्क्रमितुमनसो जन्तोः इति आयुः । "इणो णित्" [उ. ९९८] इति उस् । यद् वा, आयाति भवाद्-भवान्तरं संक्रामतां जन्तूनाम् निश्चयेनोदयमागच्छतीति आयुः, जीवितकालः तत्र । पृषोदरादित्वात् साधुः । शिङ्घानकोऽपि, तालव्यादिरयम् ।

सङ्कल्पे स्याद् विकल्पोऽपि

संकल्पनम् सङ्कल्पः, मनसो व्यापारः, तत्र । विकल्पनम् विकल्पः ।

मनोऽनिन्द्रियमपि

मन्यते जानाति अर्थात् मनः । "अस्" [उ.९५२] इति अस् । यदाह[1]—तर्के "सर्वार्थग्रहणं मनः" इति । न विद्यते इन्द्रियं अस्य अनिन्द्रियम् । स्पृशानः, संस्पृशानः, स्तिभिः, जिगम्नुः, गान्त्रम्[2], वीकः, कन्तुः, मर्क्कः च ।

अथ ॥१२४॥

शर्म सौख्यम्

"शृश् हिंसायाम्" शृणाति दुःखमिति शर्मम् । पुंक्लीबः । "अर्तिरीस्तुसुहुसृघृधृशृ०" [उ.३३८] इति मः । सरति दुःखम् याति अनेन सर्ममपि, दन्त्यादिः । सुखमेव सौख्यम् । भेषजादित्वाद् ष्यण् । स्योनम्[3] प्रतीकः, नन्दयन्तः, मृडीकम्, गेष्णम् च ।[4] "शो तनूकरणे" श्यति दुःखम्—शातम् तालव्यादिरिति **क्षीरस्वामी**[4] ।

पीडा बाधः

पीडनम् पीडा । "भीषिभूषि०" [५।३।१०९] इति बहुवचनाद् अङ् । "बाधृङ् रोटने" रोटनम् प्रतिघातः । बाध्यतेऽनेन बाधः । घञ् । वधिः, तृप्रम्, द्रप्रम्, क्रूरः च ।

चर्चा चर्चोऽपि कथ्यते ।

"चर्चण् अध्ययने" चर्चनम् चर्चा । "भीषिभूषि०" [५।३।१०९] इति अङ् । चर्च्यते चर्चः ।

विप्रतीसारोऽनुशये

वैपरीत्येन प्रतिसरणम् विप्रतिसारः । एकदेशस्य विकृतत्वात् विप्रतीसारः । "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" [३।२।८६] इति वा दीर्घः । अनुशयनम् अनुशयः पश्चात्तापः तत्र ।

अथार्था अपीन्द्रियार्थवत् ॥१२५॥

अर्थ्यन्ते—विचार्यन्ते अर्थाः । इन्द्रियैरर्थ्यन्ते इन्द्रियार्थाः । वदर्थः पूर्ववदवसेयः । गोचरनाम्नी ॥१२५॥

सुशीमस्तु सुषीमोऽपि

१. जे. ज. प्रतौ 'यदाह' नास्ति । २. जे. गात्रम् । ३. जे. ज. स्पोनम् । ४. ४. प्रा. प्रतौ-'शो तनूकरणे' श्यति दुःखम् शातम् तालव्यादिरिति क्षीरस्वामी' इति पाठो नोपलभ्यते ।

"श्यैङ् गतौ" सुष्ठु श्यायते सुशीमः, तालव्यमध्यः । "रुक्मग्रीष्म०" [उ.३४६] इति मान्तो निपात्यते । शोभना सीमाऽस्य सुषीमः । पृषोदरादित्वात् सस्य षत्वम् । मूर्धन्यमध्यः । शीतलनाम्नी । शतेरोऽपि ।

कक्खटः खक्खटोऽपि च ।

जरठो जरुटः

"कक्ख हसने" कक्ख्यते कक्खटः । "दिव्यवि०" [उ.१४२] इति अटः । केचिदेनं धातुं द्वितीयादिं मन्यन्ते, तन्मते खक्ख्यते खक्खटः । "दिव्यवि०" [उ.१४२] इति अटः । "जॄष् च जरसि" जीर्यते जरठः । "मृजॄशॄकम्यमिरमिरपिभ्योऽठः" [उ.१६७] इति अठः । गजदृवभृभ्यः उट उडश्च" [उ.१५३] इति उटे जरुटः । कठिननामानि ।

अम्लेऽम्लः

"अम गतौ" अम्यते अम्लः । "अबुङ् शब्दे" अम्बते अम्ब्लः, रसविशेषः । उभयत्र "शामाश्याशक्यम्ब्यमिभ्यो लः" [उ.४६२] इति लः ।

रावो रव इव स्मृतः ॥१२६॥

"रुंङ् शब्दे" रवणम् रूयते अनेन वा रावः । बहुलाधिकाराद् दीर्घः । रवणम् रवः । "युवर्ण०" [५।३।२८] इति अल् । इवो वदर्थवाचकः । क्षवोऽपि ॥१२६॥

निषादो निषधः

निषीदन्ति स्वरा अत्र निषादः, सप्तमः स्वरः । बाहुलकात् सोपसर्गादपि णः । यदाह—

निषीदन्ति स्वरा अस्मिन् निषादस्तेन हेतुना ।

इति । यदाहुः—

षड्जं मयूरा ब्रुवते गाव ऋषभभाषिणः ।
अजा वदति गान्धारं, क्रौञ्चः क्वणति मध्यमम् ।
पुष्पसाधारणे काले पिकः कूजति पञ्चमम् ।
धैवतं हेषते वाजी निषादं बृंहते गजः ।

"षोंच् अन्तकर्मणि" निष्यति निषधः । "नेः स्यतेरधक्" [उ.२५२] इति अधक् ।

गञ्जो गञ्जा

"गर्ज अव्यक्ते[1] शब्दे" गर्जनम् गर्जः। अल्। "भीषिभूषि०" [५।३। १०९] इति बहुवचनाद् अङि प्रत्यये गर्जा। हस्तिध्वनिनाम्नी।

मद्रोऽपि मन्द्रवत्।

"मदैच् हर्षे" माद्यति मध्यताराभ्यां मद्रः। "भीवृधिरुधि०" [उ.३८७] इति रः। "मदुङ् स्तुत्यादिषु" मन्द्यते मध्यताराभ्यां मन्द्रः, गम्भीरस्वरः "भीवृधि०" [उ.३८७] इत्यादिना रः। वदर्थः पूर्ववद् भावनीयः।

आकरो निकरे

आकीर्यते आकरः। अल्। निकीर्यते निकरः समूहस्तत्र। मुर्मुरः, शिर्शिरः, समिथम् च।

युग्मे जकुटः

"युजिच् समाधौ" युज्यते युग्मम्। "तिजियुजेर्ग् च" [उ.३४५] इति किद् मः, धातोर्जस्य च गत्वम्। जायते जकुटः। 'नर्कुटकुक्कुटो०' [उ.१५५] इति उटे निपात्यते। पुंलिङ्गः। यदाह **गौडः**—

वार्ताककुसुमे क्लीबं जकुटो यमले शुनि।

द्वन्द्वमपि।

अथ कनीयसि ॥१२७॥

कनिष्ठम्

अतिशयेन अल्पम् कनीयः, कनिष्ठम्। "गुणाङ्गाद् वेष्ठेयसू" [७।३।९] इति 'इयसु' प्रत्ययः, 'इष्ठ' प्रत्ययश्च। "अल्पयूनोः कन् वा" [७।४।२३] इति अल्पशब्दस्य 'कन्' आदेशः। अत्यल्पनाम्नी।

विग्रहः शब्दप्रपञ्चे

विग्रहणम् विगृह्यते वा विग्रहः। अल् प्रत्ययः। शब्दस्य प्रपञ्चः—विस्तरः शब्दप्रपञ्चः तत्र।

निखिले पुनः।

स्यान्निःशेषमनूनं च

निवृत्तम् खिलात्—शून्यात् निखिलम् समस्तम्, तत्र। निवृत्तः शेषान्निसर्गतः शेषोऽस्य वा निश्शेषम्। नास्ति ऊनमस्य अनूनम्।

---

१. जे. ज. 'अव्यक्ते' नास्ति।

खण्डलं चापि खण्डवत् ॥१२८॥

खण्डम् लाति खण्डलम्, खण्डम् अस्त्यस्य वा । सिध्मादित्वात् लः । खण्ड्यते वा । "मुरलोरल०" [उ.४७४] इति अले निपात्यते । खण्ड्यते खण्डः । पुंक्लीबलिङ्गः । वदर्थः पूर्ववद् भावनीयः ॥१२८॥

मलीमसे कल्मषं च

मलोऽस्त्यस्य मलीमसम्, मलिनम् । "मलाद् ईमसश्च" [७ । २ । १४] इति ईमसः प्रत्ययः । तत्र । "कलि शब्दसंख्यानयोः" कलते कल्मषम् । "कलेर्मषः" [उ. ५६२] इति मषः ।

निकृष्टे याव्यरेपसी ।

निकृष्यते निकृष्टम्–अधमम्, तत्र । याप्यते निर्गुणत्वात् याप्यम् । "जपादीनां पो वः" [२ । ३ । १०५] इति पस्य वत्वे याव्यम् । अन्तस्थीयादिः । "रीङ् गतिरेषणयोः" रीयते रेपः । "रीवृभ्यां पस्" [उ. ९८१] इति पस् । सकारान्तोऽयम् ।

लडहं रमणीयं च रम्ये

"ललण् ईप्सायाम्" ललयति ललहः । डलयोरैक्ये लडहः । "कृपृकटिपटिमटि०" [उ. ५८९] इत्यादिना अटः । यदाह गौडः–

"मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलं लडहं रमणीयं च ।" इत्यादि ।

रम्यते तेन रमणीयम् । "तव्याऽनीयौ" [५ । १ । २७] इति अनीयः । रमयते मनो रम्यम्–मनोहरम्, तत्र । "भव्यगेयजन्यरम्य०" [५ । १ । ७] इति साधुः । हर्यतः, दशीकम् रुम्रः, धुवकः, कमरः, उशिक्, भिलमम्, शौभुशुभः, कुमुलः, शोभुशुभश्च ।

नित्ये सदातनम् ॥१२९॥

शाश्वतिकं च

नित्यम् भवं नित्यम् । "नेर्ध्रुवे" [६।३।१७] इति त्यब्, तत्र । सदा भवं सदातनम् । "सायंचिरं०" [६।३।८८] इति तनट् । शश्वद् भवं शाश्वतिकम् । "वर्षाकालेभ्यः [६।३।८०] इति इकण् ।

नेदीय इत्यन्तिकतमे स्मृतम् ।

अतिशयेन अन्तिकम् नेदीयः । "बाढान्तिकयोः साध-नेदौ" [७।४।३७] इति

अन्तिकस्य नेद इत्यादेशः, ततो "गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू" [७।३।९] इति 'इयसु' प्रत्ययः। अतिशयेन अन्तिकं अन्तिकतमम्, तत्र। "प्रकृष्टे०" [७।३।५] इति तमप्।

एकाकिन्यवगणोऽपि

एक एव एकाकी, असहाय इत्यर्थः। तत्र। "एकादाकिन् चासहाये" [७।३।२७] इति साधुः। अवगतो गणो अस्य अवगणः। यद् **भागुरिः**—

"एकाकी स्यादवगणः"।

प्रागप्यादौ प्रकीर्तितम् ॥१३०॥

प्राञ्चति प्राक्। नलोपः। प्राञ्चौ प्राञ्चः। आदीयते प्रथमतया इति आदिः। पुंलिङ्गः। "उपसर्गाद् दः किः" [५।३।८७] इति किः तत्र॥ १३०॥

मध्यमे मध्यन्दिनं च

मध्ये जातं मध्यमम्। "मध्यात् मः" [६।३।७६] इति मः। मध्ये भवं मध्यन्दिनम्। "मध्याद दिनण्—ण-ईया मोऽन्तश्च" [६।३।१२६] इति दिनण् प्रत्ययः, 'म'आगमश्च, मतान्तरेण वृद्धयभावः। पक्षे माध्यन्दिनम्।

निरर्गलमनर्गले।

निर्गता अर्गला अस्य निरर्गलम्। नास्ति अर्गलाऽस्य अनर्गलम्। तत्र।

वहुरूपपृथग्रूपनानाविधाः पृथग्विधे ॥१३१॥

वहु रूपम् अस्य वहुरूपः। पृथक् रूपम् अस्य पृथग्रूपः। नाना-अनेकः विधः प्रकारोऽस्य नानाविधः। पृथग्विधोऽस्य पृथग्विधः तत्र॥१३१॥

झम्पा झम्पोऽपि

"झमू अदने" झमति झम्पा। "पम्पाशिल्पादयः" [उ. ३००] इति पान्तो निपात्यते। स्त्रीलिङ्गोऽयम्। पुंसि **अन्ये**। **यदाह** – 'झम्पः सम्पातपाटवम्' [ ] इति।

अथ छन्ने छादिताऽपिहिते अपि।

छाद्यते स्म छन्नम्, तस्मिन् छन्ने। छाद्यते स्म छादितम्। उभावपि "णौ दान्तशान्त०" [४।४।७४] इति विकल्पेन क्ते निपात्येते, निपातनाच्च इडभावे छन्नम्, पक्षे छादितम् इति। "डुधांगक् धारणे" अपिधीयते स्म अपिहितम्। "धागः" [४।४।१५] इति तादौ प्रत्यये परे 'हिः' आदेशः। "वाऽवाऽप्योस्तनि०" [३।२।१५६] इति विकल्पेन 'पि' आदेशे। पिहितम् इति तु **अभिधानचिन्तामणौ** उक्तमेव।

प्रकाशिते प्रादुष्कृतम्

प्रकाश्यते स्म प्रकाशितम्, तत्र। प्रादुष्क्रियते स्म प्रादुष्कृतम्। "निर्दुर्बहिराविः०" [२।३।९] इति षत्वम्।

अवज्ञायामसूक्षणम् ॥१३२॥

बुधैरवमाननावगणने अपि कीर्तिते।

अवज्ञानम् अवज्ञा, तस्याम्। "उक्ष सेचने" न सुष्ठु उक्षणम् अस्य असूक्षणम्। अवमाननम् अवमानना। अवगणनम् अवगणना। "णि-वेत्त्यासश्रन्थग्रन्थघट्टवन्देरनः" [५।३।१११] इति अनः।

अन्दोलनमपि प्रेङ्खा

अन्दोल्यते अन्दोलनम्। अनट्। प्रेङ्खणम् प्रेङ्खा। "इखु गतौ" अल् प्रत्ययः।

अथोदस्तमप्युदञ्चितम् ॥१३३॥

उदस्यते स्म उदस्तम्। उदञ्च्यते स्म उदञ्चितम्। ऊर्ध्वक्षिप्तम् ॥१३३॥

भिदा भित्

भेदनम् भिदा। "भिदादयः" [५।३।१०८] इति अङ्। भेदनम् भित्। "क्रुत्सम्पदा०" [५।३।११४] इति क्विप्। भिदिरः, भेदः, दल्लः, भेदनम् च।

चोदितमपीरिते

"चुदण् सञ्चोदने" सञ्चोदनम् नोदनमित्यर्थः। चोद्यते स्म चोदितम्। "ईरण् क्षेपणे" ईर्यते स्म ईरितम्, क्षिप्तम् तत्र।

ऽथाऽङ्गीकृते पुनः।

कक्षीकृतं स्वीकृतं च

अनङ्गम् अङ्गं क्रियते स्म अङ्गीकृतम्, तत्र। अकक्षा कक्षा क्रियते स्म कक्षीकृतम्। अस्वम् स्वम् क्रियते स्म स्वीकृतम्।

छिन्ने छातमपि स्मृतम् ॥१३४॥

छिद्यते स्म छिन्नम्, तत्र। "छोंच् छेदने" छायते छातम्। "छाशोर्वा" [४।४।१२] इति क्ते साधुः ॥१३४॥

प्राप्ते विन्नम्

प्राप्यते स्म प्राप्तम्, तत्र। "विद्लृंत् लाभे" विद्यते स्म विन्नम्।

विस्मृतं च भवेत् प्रस्मृतमित्यपि।

विस्मर्यते स्म विस्मृतम्, विगतम् स्मृतमत्र वा। प्रस्मर्यते स्म प्रस्मृतम्, प्रगतं स्मृतम्-स्मरणम् अत्रेति वा।

अटाटाऽट्या पर्यटनम्

कुटिलम् अटनम् अटाटा । "शंसि-प्रत्ययात्" [५।३।१०५] इति अः । अटनम् अट्या । "आस्यटि०" [५।३।९७] इति क्यप् । यद् मनुः—

"तीर्थत्रिकं वृथाऽट्या च कामजो देशको गुणः" । इति ।

पर्यट्यते पर्यटनम् । अनट् ।

आनुपूर्व्यमनुक्रमे ॥१३५॥

अनुपूर्वस्य भावः आनुपूर्व्यम् । "वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा" [७।१।५९] इति ट्यण् । अनुक्रमणम् अनुक्रमः, तत्र ॥१३५॥

परीरम्भोऽपि संश्लेषे स्यात्

"रभि राभस्ये" परिरम्भणम् परीरम्भः । "घञ्युपसर्गस्य०" [३।२।८६] इति दीर्घत्वम् । संश्लेषणम् संश्लेषः, आलिङ्गनम् तत्र ।

उद्घातोऽप्युपक्रमे ।

उद्घननम् उद्घातः । घञ् प्रत्ययः । "ञ्णिति घात्" [४।३।१००] इति हन्तेर्घात् इत्ययमादेशः । उपक्रमणम् उपक्रमः, आरम्भस्तत्र ।

जातौ जातमपि

जायतेऽस्यां जातिः, तत्र[1] । जायतेऽस्मिन् जननम् वा जातम् ।

स्पर्द्धा सङ्घर्षोऽपि

"स्पर्द्धि सङ्घर्षे" सङ्घर्षः, पराभिभवेच्छा । स्पर्द्धनम् स्पर्द्धा । "क्तेटो०" [५।३।१०६] इति अः । "घृषू सङ्घर्षे" सङ्घर्षणम् सङ्घर्षः ।

अथ विक्रिया ॥१३६॥

विकारो विकृतिश्चापि

विक्रियते विक्रिया । "कृगः श च वा" [५।३।१००] इति श प्रत्ययः । विकरणम् विकारः । विक्रियते विकृतिः । "स्त्रियां क्तिः" [५।३।९१] इति क्तिः ।

विलम्भस्तु समर्पणम् ।

"डुलभिष् प्राप्तौ" विलम्भनम् विलम्भः । घञ् प्रत्ययः । "उपसर्गात् खल्-घञोश्च" [४।४।१०७] इति नोऽन्तः । समर्प्यते समर्पणम् ।

---

१ जे. 'तत्र' नास्ति ।

दिष्ट्या समुपजोषम्

दिशति दिष्ट्या "वृमिथिदिशिभ्यः०" [उ. ६०१] इति ष्ट्यादिः 'आ' प्रत्ययः । **यथा**—दिष्ट्या ते पुत्रो जातः । "जुषी प्रीतिसेवनयोः" समुपजुष्यते समुपजोषम् । बाहुलकाद् अम् । **यदाह**—दिष्ट्या समुपजोषं च सानन्दे । **यथा**—समुपजोषं वर्तते । उपजोषमपि ।

सर्वदा सदा सनत् सनात् ॥१३७॥

सर्वस्मिन् काले सर्वदा । "किम्यत्तत्सर्वैकान्यात् काले दा" [७।२।९५] इति दा प्रत्ययः । सदा, अधुना, इदानीम्, तदानीम्, एतर्हीति सर्वशब्दाद् दा प्रत्ययः 'स'भावश्चास्य । "षणूयी दाने" सनोति सनत् सनात् । उभावपि "संश्चद्वेहत्साक्षादादयः" [उ. ८८२] इति कत् प्रत्ययान्तौ निपात्येते । **यथा**—सनत्कुमारः, सनात्कुमारः, सदमपि ॥१३६॥

निर्भरे च स्वती

निःशेषेण भरोऽत्र निर्भरम्—भृशम्, तत्र । सुनोतेः क्विपि, नागमाभावे सु । यद् वा "शुभि दीप्तौ" "शुभेः स च वा" [उ. ७४३] इति डित्युकारे सादेशे च सु । **यथा**—सुगुप्तम्, सुषिक्तम् । अततेः "पदिपठि०" [उ. ६०७] इति इ प्रत्यये अति । **यथा**—अतिक्रतम्, अतीसारः, अतिवृष्टिः इति ।

हेतौ येन तेन च कीर्तितौ ।

हिनोति वर्द्धते हेतुः । पुंलिङ्गः । तत्र । हेतौ कारणे "कृसिकमि०" [उ. ७७३] इति तुन् । येन तेन इत्येतौ विभक्त्यन्तप्रतिरूपकौ निपातौ । **यथा**—"येन दाता तेन श्लाघ्यः" इत्यादि । कीर्तितौ—कथितौ इत्यर्थः ।

अहो सम्बोधने ऽपि

नञ्पूर्वात् जुहोतेर्विचि, अहो । **यथा**—'अहो देवदत्त' इत्यादि सम्बोधने सम्बोधनार्थे ।

इति षष्ठः काण्डः शिलोञ्छितः ॥१३८॥

इति अमुना प्रकारेण षष्ठः—षण्णाम् संख्यापूरणः काण्डः श्रीहैमनाममाला-शिलोञ्छस्य अधिकारः शिलोञ्छितः—शिलोञ्छो जातोऽस्येति शिलोञ्छितः, शिलोञ्छी-कृत इत्यर्थः । तारकादित्वाद् इतः ॥१३८॥

साम्प्रतं ग्रन्थकृत्स्वनामादिनिवेदिकां ग्रन्थसमाप्तिं प्रतिपादयन्नाह—

वैक्रमेऽब्दे त्रिविश्वेन्द्रमिते राधाद्यपक्षतौ।
ग्रन्थोऽयं दृदभे श्रीमज्जिनदेवमुनीश्वरैः ॥१३९॥

श्रीर्विद्यते येषां ते श्रीमन्तः, ते च ते जिनदेवाश्च श्रीमज्जिनदेवाः, मुनीनाम् ईश्वराः-अधिपतयो मुनीश्वराः । यद् वा, मुनिषु साधुषु ईशते—परमैश्वर्यं सूरिपदलक्षणं भजन्तीत्येवंशीला मुनीश्वराः, सूरय इत्यर्थः । "स्थेशभसपिस-कसो वरः" [५।२।८१] इति वरः । श्रीमज्जिनदेवाश्च ते मुनीश्वराश्च श्रीमज्जिनदेवमुनीश्वरास्तैः **श्रीमज्जिनदेवमुनीश्वरैः** । श्रीमद्वृद्धेतरखरतरगच्छाल-ङ्कारोदारहार**श्रीजिनप्रभसूरि**शरण्यवरेण्यचरणसरसीरुहचञ्चरीकप्रकरैरयं प्रत्यक्षो-पलभ्यमानो ग्रन्थः—शास्त्रम् दृदभे—सन्दब्ध इत्यर्थः । कस्मिन् वर्षे ? इत्याह— विक्रमस्य—विक्रमादित्यनृपतेरयं वैक्रमः । "तस्येदम्" [६।३।१६०] इति अण् । तस्मिन् वैक्रमे[1] विक्रमादित्यनृपतिसम्बन्धिनि अब्दे—संवत्सरे । किम्भूते ? 'त्रिविश्वेन्द्रमिते' "अङ्कानाम् वक्रतो गतिः" इति वचनप्रामाण्यात्, इन्द्र-शब्देन चतुर्दशसंख्यायाः संज्ञा । यदुक्तम्—"शक्रैर्गुरुः सप्त कुभिश्च मन्दः" । इत्यत्र शक्रैरिति चतुर्दशभिरित्यर्थः । विश्वशब्देन भुवनम, भुवनशब्देन त्रीणि । पुनरपि त्रीणि । ततश्च द्वन्द्वे त्रिविश्वेन्द्रास्तैर्मितः—प्रमितः त्रिविश्वेन्द्रमितस्तस्मिन् त्रिविश्वेन्द्रमिते १४३३ वर्षे । पुनः कस्याम ? 'राधाद्यपक्षतौ' राधः वैशाख-स्तस्य आद्यपक्षतिः—कृष्णप्रतिपत् तस्यां राधाद्यपक्षतौ ग्रन्थोऽयं विरचित इत्यर्थः ॥१३९॥

इति श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीय-श्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्तानीय-
वाचनाचार्यश्रीभानुमेरुगणिशिष्यमुख्यश्रीज्ञानविमलोपा-
ध्यायविनेयवाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिविरचितायां
श्रीहैमनाममालाशिलोञ्छटीकायां साधारण-
काण्डस्य **शिलोञ्छः** समाप्तः ।
तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं श्री हैमनाम-
मालाशिलोञ्छटीका ।छ। श्रीः ॥

---

१. जे. 'वैक्रमे' नास्ति ।

[टीकाकारकृता प्रशस्तिः]

श्रीमत्खरतरगच्छे चक्रे यैः सन्नवाङ्गवरवृत्तिः ।
श्रीमन्तोऽभयदेवाचार्या ज्यायां विरेजुस्ते ॥१॥

तत्पट्टे जिनवल्लभसूरिवराः सर्वशास्त्रपारीणाः ।
तेषां शिष्या आसन् श्रीमज्जिनदत्तसूरीन्द्राः ॥२॥ युग्मम्[1] ।

विख्यातयशसस्तेषां पट्टक्रमेण सूरयः ।
श्रीमच्छ्रीजिनमाणिक्याचार्याः क्ष्मायां विरेजिरे ॥३॥

अकब्बराख्यक्षितिपालपर्षच्-चञ्चत्प्रमाणोक्तिसुलब्धशोभाः ।
लोकत्रयीव्याप्तयशोवितानाः राजन्ति ये साधुयुगप्रधानाः ॥४॥

श्रीधर्मराज्यं परिपालयत्सु दुर्वादिदर्पं च निवारयत्सु ।
तत्पट्टपूर्वाचलसप्तसप्तिषु तेषूदितश्रीजिनचन्द्रसूरिषु ॥५॥
त्रिभिर्विशेषकम् ।

अकब्बराख्यक्षितिभृत्समक्षं येन प्रपेदे पदमुत्तमं महत् ।
गुरोः कराच्छ्रीजिनचन्द्रनाम्नो विराजति श्रीजिनसिंहसूरौ ॥६॥

शुशुभिरे जिनराजमुनीश्वराः खरतराह्वगणाभ्रदिवाकराः ।
तदनु भूरिगुणा जयसागरा जगति रेजुरनुत्तमपाठकाः ॥७॥

तेषां शिष्या मुख्या दक्षाः आसन् अदूष्यगुणलक्षाः ।
श्रीरत्नचन्द्रनामोपाध्यायाः साधुपरिधायाः ॥८॥

तत्पट्टस्फुटपद्मप्रकाशनोदारसूरसङ्काशाः ।
श्रीभक्तिलाभनामोपाध्यायाः शास्त्रकर्त्तारः ॥९॥

धीमन्तोऽन्तिषदस्तेषां कलाकौशलपेशलाः ।
समजायन्त राजन्तो ग्रन्थार्थाम्भोधिपारगाः ॥१०॥

चारित्रसारपाठकभावाकरसद्गणीश्वरा दक्षाः ।
श्रीचारुचन्द्रवाचकधुर्याः स्मार्या मुनीशानाम् ॥११॥

तेषां क्रमशः पट्टव्योमाङ्गणशीतरश्मिसङ्काशाः ।
श्रीभानुमेरुवाचक–जीवकलश–कनककलशाङ्काः ॥१२॥

---

१ जे. ज. प्रतौ 'युग्मं' नास्ति ।

तत्र चारित्रसाराख्या उपाध्याया महाजयाः ।
बभूवुः श्रुतपाथोधिपारीणाः साधुवृत्तयः ॥१३॥

तत्पट्टे समभूवन् विलसत्संवेगरङ्गसंलीनाः ।
वाचकपदप्रधानाः श्रीमन्तो भानुमेर्वाह्वाः ॥१४॥

सौभाग्यौघं निविडजडतां व्यञ्जयन्त्यन्तयन्ती,
यद्वक्त्राम्भोरुहसुवसतिं प्राप्य गौर्ललसीति ।
गम्भीरा ये बृहदुदधयः स्फूर्त्तिमन्तो महान्तो,
गाम्भीर्यादिप्रथितसुगुणैर्वर्ण्यलावण्यपुण्याः ॥१५॥[1]

जयन्ति [ये] क्ष्मायां समयकथितज्ञानविमला-
श्चिरं चञ्चत्पाठकपदवरा ज्ञानविमलाः ।
लसत्तत्पट्टे [सद्]वचनरचनारञ्जितजना
महावादिव्राजप्रमितिकथनादाप्तविजयाः ॥१६॥

युग्मम् ।

वैराग्यरससंलीनास्तद्गुरुभ्रातरोऽधुना ।
विजयन्ते महान्तः श्रीतेजोरङ्गगणीश्वराः ॥१७॥

तेषां जयन्ति जयिनः सुनया विनेयाः
सद्भागधेयमतिमत्प्रतिवाधजेयाः ।
श्रीज्ञानसुन्दरसुधी-जयवल्लभाद्या
वाग्देवताप्रतिमसत्प्रतिभाप्रधानाः ॥१८॥

श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण ।
श्रीवल्लभेन रचिता[2] शिलोञ्छशास्त्रे शुभा टीका ॥१९॥

हैमव्याकृति-हैमोणादिग्रन्थादि-नामकोशांश्च ।
दृष्ट्वा विमृश्य बाढं प्रसादमासाद्य पूज्यानाम् ॥२०॥

वेदेन्द्रियरसपृथ्वीसंख्ये वर्षे सुनागपुरनगरे ।
मधुमासाद्ये पक्षे मूलार्के सप्तमीतिथ्याम् ॥२१॥

त्रिभिर्विशेषकम्

---

१. प्रा. गाम्भीर्यस्थैर्यगुणप्रमुखैर्वर्ण्यलावण्यपुण्याः । जे० गाम्भीर्यादिप्रविततसुगुणैर्वर्ण्यलावण्यपुण्याः । २. प्रा. विदधे ।

शिलोञ्छाभिधसन्नामकोशे वृत्तिं वितन्वता ।
मयाऽलीकमिह प्रोक्तं यत् किञ्चिद् बुद्धिमान्द्यतः ॥२२॥

मयि प्रसादमाधाय शोधनीयं तदुत्तमैः ।
कर्त्तव्या तत्र नोपेक्षा विद्वद्भिर्विशदाशयैः ॥२३॥

युग्मम् ।

यतः —

गच्छतः स्खलनं क्वापि प्रमादादेव जायते ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥२४॥

अर्वाचीनविचक्षणविनिर्मितां व्याकृतिं विमृश्येति ।
नोपेक्षां कुरुत बुधा ग्रन्थान् संवीक्ष्य यद्दब्धान् ॥२५॥

श्रीपार्श्वनाथदेवश्रीजिनदत्त-जिनकुशलसूरीणाम् ।
सौम्यदृशाऽधीयानानां स्यादेषेह सद्बुद्ध्यै ॥२६॥

यावद् वार्द्धि-मही-मेरु-तारा-तारेश-भास्कराः ।
जयन्त्येते शिलोञ्छस्य तावन्नन्दतु दीपिका ॥२७॥

त्रयोदशशतान्येवं ग्रन्थमानं विनिश्चितम् ।
अस्याः शिलोञ्छटीकाया अनुमित्या कृतं शुभम् ॥२८॥

। इति प्रशस्तिः समाप्ता ।

ग्रन्थाग्रम् ॥१३००॥ श्रीरस्तु ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥

परिशिष्ट १

हैमनाममालाशिलोच्छान्तर्गतशब्दानां दीपिकाकारोद्धृत-पर्यायरूपशब्दानाञ्च अकाराद्यनुक्रमः

['टी.' शब्दाङ्किताः शब्दाः दीपिकाकारेणोद्धृताः सन्ति ।

क्ष

परिशिष्ट २

हैमनाममालाशिलोञ्छदीपिकायां दीपिकाकारेण श्रीश्रीवल्लभोपाध्यायेनोद्धृतानामवतरणश्लोकादीनामकाराद्यनुक्रमः।

परिशिष्ट ३.

हैमनाममालाशिलोञ्छदीपिकान्तर्निर्दिष्टानां ग्रन्थानां ग्रन्थकर्तॄणां विशिष्टनाम्नाञ्चाकाराद्यनुक्रमः

परिशिष्ट-४

मूलग्रन्थस्य पाठभेदाः

१-३. पु.अ. आ. श्रीहैमनाममालायाः । १-४. अ. शलोञ्छः । २-२. अ. सम्भवे शम्भवेऽपि च । ३-४. आ. युगादिजिनमातरम् । ४-२ अ. अजितारिः । पु. आ. 'च' नास्ति । ४-४. अ. सुतारिकोक्ता । ५-१. पु. अ. आ. भद्रकृद्भिद्रकरोऽपि । ५-२. आ. श्रमणोऽपि । ५-३. पु. भद्रं भन्दमपि, अ. भद्रं भद्रमपि, आ. भन्द्रं मन्दमपि । ७-३. पु. समुद्रं नवनीतं । ८-३. अ. घोतस् । पु. आ. पृष्णिमृष्णी, अ. पृष्णिमुष्णो । ९-४. पु. आ. इन्वका, अ. इंविका ।

११-३. अ. तुंग्यौ । १२-१. अ. स्यादन्धतमसं । १२-३. अ. सांसृष्टक० । १२-४ अ. तात्कालजे । १३-२. आ. वार्द्दिलं । अ. दुर्दिने० । १४-२. अ. घनाधिपे । १४-३. आ. अजगवमजागावमपि । १४-४. पु. अ. आ. शङ्करधन्विनि । १५-४. पु. आ. ईः । १६-३. आ. व्याख्याव्यवाहाभ्यां । १७-१. पु. दृष्टिः पातो । १७-१. पु. अ. आ. द्वादशाङ्ग्यां । १७-३. अ. जुगुप्साऽध्या० । १८-२. अ. रुशतीद्रुशत्यपि । १८-३. पु. सन्धीयां । १९-१. पु. अ. आ. सूका । १९-१. पु. अ. आ. मन्दाक्षञ्च । २०-१.२. पु. केलीकिकिलोऽपि ।

२१-१. पु. आ. यौवनिको । २२-४. पु. अ. आ. ०ऽन्धजडशठेष्वप्यनेडमूकस्तु । २३-१. अ. वदन्यौ । २३-२. अ. दानशैल० । २३-३. अ. मूर्षि । २३-३. अ. ऽपीभ्ये । २४-१. पु. आ. ०वैवधिकावपि । २४-२. अ. आ. सम्मार्जके । २४-३. पु. अ. बहुकरो । २४-४. पु. अ. आ. इतीष्यते च परैः । २५-१.२. अ. विहङ्गिमाप्यथोर्ध्वदेहिके । २५-३. पु. अ. और्ध्वदेहिकं, आ. ऊर्ध्वदैहिकं । २५-४. अ.० रनृजो । २५-४. पु. आ. शठ । २७-१. अ. प्रदेशनमपि । २७-३. आ. 'कोपनः' नास्ति । २७-३. पु. तृणक् । २८-२. पु. अ. आ. मर्ज्जिताऽपि च मार्ज्जिता । २९-२. पु. अ. पिच्छले । २९-४. पु. आ. जेमनं । ३०-१. अ. तृप्तौ । ३०-२. पु. पिशिताशनि । ३०-३. पु. आ. मनोराज्यामनोगव्या. ।

३२-१. अ. पूजिते । ३२-४. अ. ऽप्येन्द्रलुप्तके, आ. ऽप्येन्द्रलुप्तिके । ३३-१ पु. आ. कद्दरो । ३३-३. ४. अ. खर्जूतिर्विस्फोटो । ३४-३. पु. मोहप्रमोहवदायु० । ३५-४. आ. परिषद्योऽपि । ३६-१. पु. स्युर्नैमित्तकनैमित्त० । ३६-४. आ. कुलिकोऽपि । ३७-४. पु. प्रभुविष्णुरपि । ३८-१. पु. अ. आ. जंघाकरोऽपि । ३८-२. आ. ऽप्यनुगामनि । ३८-३. आ. पर्येषणोपासनोऽपि । ३९-१. पु.

आतिथ्यौ० । ३९-२. ऽभियो । ३९-३. आ. श्री । ४०-१. पु. अ. आ. सुवासिनी । ४०-२. पु. अ. आ. चिरण्टी । ४०-२. पु. चिरटचपि । ४०-३. पु. 'पत्न्यां' नास्ति । ४०-३. पु. कत्री, आ. कर्त्री ।

४२-३. पु. अ. आ. दिधीपू० । ४३-२, पु. श्रवणा श्रवणे, अ. श्रमणा श्रवणे । ४४-२. पु. माहने । ४४-३. अ. सगर्भोऽपि, पु. सगर्म्योऽपि । ४४-४. अ. स्यादग्रिज० । ४५-२. पु. ३२. जनत्र्यपि, आ. जनेत्र्यपि । ४५-४. पु. कर्णशब्दो ग्रहोऽपि । ४६-४. आ. कफोणवत् । ४७-१. पु. कर्प्पूरे । ४७-१. पु. आ. सिंहताळः, अ. 'सिंहतलः' नास्ति । ४७-२. पु. अ. आ. सिंहतलोऽपि । ४७-३.पु. आ. चुलुकोऽपि चुलो, अ. चलुकोऽपि चलौ । ४८-१, पु. अ. आ. 'च' नास्ति । ४८-४ पु. पृष्ठास्थीनि । ४९-३. पु. अ. आ. सिंघाणः । ५०-२. अ. वंशोऽपि । ५०-३. अ. उत्सादनोच्छादने । ५०-३.४. पु. अ. आ. च प्लवा० ।

५१-१. पु. कृमिकं जग्धं, आ. कमिजग्धं । ५१-१. २. पु. अ. आ. चागरौ । ५१-४. पु. कुङ्कुमः । ५२-३. पु. आ. मुकुटोऽपि । ५२-४. अ. विशेपकैः । ५३-१. पु. वसन्तोप्यवसतो । ५३-२. पु. अ. आ. तुवछरी । ५३-३. ४. पु. आ. मञ्जरी च पारितथ्या पर्यातथ्या तथैव च । अ. मञ्जरी च पत्रात्पारितथ्या पर्या च तथ्यया । ५४-१. पु. आ. कर्णेन्दूरपि कर्णेन्दुः । ५४-३. पु. अ. आ. किंकिणी किंकणी । ५४-४. पु. आ. अच्छादात् । ५५-१. पु. आ. कुर्प्पासो, अ. कुर्प्पासे । ५५-१. पु. 'कक्षापटे' नास्ति । ५६-४. अ. संस्तरः । ५७-१. अ. पतद्ग्राहप्रतिग्राहावपि । ५७-३. अ. ऽप्यात्मदर्शोऽथ । ५८.३. अ. गीरीयको । ५९-१. अ. गण्डकोऽपि गन्दुको । ५९-३. अ. भरथः ।

६१-४. अ. परिवकर्णमित्यपि । ६२-४. अ. निष्किके । ६४. २. पु. 'अपि' नास्ति । ६४-२. पु. शबरो, अ. शिबरे । ६४-४. अ. प्रकीर्त्यते । आ' प्रकीर्त्तिताम् । ६५-२. अ. झम्फानं । ६६-१- आ. वक्त्रं । ६६-३ पु. 'धियाङ्गं' नास्ति । ६७-३. पु. आ. धनूर्धनुःशरा० । ६८.१. आ. खेट । ६९-१. आ. ऊर्ज्जुस्व्यू ऊर्ज्जस्वान् । ६९-१. अ. मगधो । ६९-२. अ. विधिकरो । ६९-३. ४. अ. सौख्यशय्यिकौ । ६९-४. पु. अ. आ. सौखसुप्तिके । ७०-१. प्र. आ. संस्फोटसंफेटौ । ७०-२. पु. आ. बलि । ७०-२. पु. आ. द्रविणमूक् ।

७१-२. अ. तपस्यपि । ७१-३. ४. पु. चाग्नीध्राग्नीनाधीप्यथ, आ.

चाग्नीध्राग्नीधाप्यथ, अ. चाग्नीधा ग्नीध्रप्यथ । ७२.२. पु. अ.आ. दधिषाज्यं । ७२–३. पु. आ. अग्निहोत्र्यग्न्याहितो, अ. ह्यग्निहोत्र्यग्न्याहितो । ७३–१.पु. अ. आ. उपवस्त्रमौपवस्त्र० । ७४–१. पु. मैत्रावरुण्यादि०, अ. मैत्र्यावरुण्यादि । ७४-३. अ. योगेशो । ७४–३. अ. याज्ञवल्को । ७५–४. पु. आ. चाणाक्य. ७६–१. पु.। पु. वैशेषिको । ७६–३. पु. अ. आ. लौकायतिकः । ७७–३ पु.आ. अयुते नियुतं, अ. आयुते नियतं । ७७–३. आ. पाते । ७८–१. अ. कर्णो पारित्रे । ७८–२. आ. गवेश्वरोऽपि । ७९–३. पु. अ. आ. तन्त्रवायोऽपि । ७९–४. पु.अ. आ. व्योमापि । ७९–४.पु आ. कीर्तिता । ८०–४.आ. वर्द्धिकः ।

८१–१. पु. चित्रकारो । ८१–२. अ. लेपकृत् । ८२–२. पु. आ. चाण्डालबुकसौ । ८४–४. पु. मालवे मालको । ८६–१. पु. अ. आ. सुरंगायां । ८६-३. पु. आ. उपकार्योपकार्याऽपि, अ. उपकार्यो उपकार्यापि । ८६-४. पु. प्रसादे । ८६–४. आ. प्रसादनम् । ८७-३. पु. 'अपि' नास्ति । ८७-४. अ. खडक्किका । ८८-२. पु. पटो । ८८-२. अ. सम्पुटे पुट इत्यपि । ८८-३. पु. आ. पेटकापि । ८८-४ पु. आ. मतिः । ८९-१.२. पु. आ. समूहिन्यामयोनिः, अ. समूहिन्यामयोनि । ८९-२. पु. अ. आ. मुशलं । ९०-३. पु. अ. आ. क्रोञ्चः । ९०-४. पु. अ. आ. क्रोञ्चवत् ।

९१-३. अ. शातकुम्भमपि स्वर्णे । ९२-१. पु. रजसातं । ९२-२. अ. तुक्षे । ९२-३. अ. गौक्षिके । ९३-२. अ. सुधियां । ९३-४. पु. अ. कुरविन्दे । ९३-४. पु. हिङ्गलुः, अ. हिङ्गुलः । ९४-३. अ. शोणिरत्नं । ९५-२. पु. अ. आ. कमन्धमपि ।९५-४.पु. अ. महिकाः, आ. महिका । ९७-३. चन्द्रभागी, चन्द्रभागा अ. चान्द्रभागा चन्द्रभङ्गा । ९७-४ पु. अ. गोतमीत्यपि । ९८- ३. पु.आ. उद्घातनोप्युद्घाटनं च, अ. उद्घातनोद्घाटने च । ९९-१ पु. अ. आ. तडागस् ।

१०१-१. पु. लञ्छलुम्ब्यौ,अ. आ. गुलञ्छलुम्ब्यौ । १०१- ३. पु. किङ्कराते। १०१-३. पु. कुरुण्ट, अ. कुरण्टक । १०२- ३. अ. वाशा च स्नुहिः स्नुहापि । १०३- १. पु. नार्याङ्गोपि नारङ्गोऽक्षे । अ. नार्यङ्गोपि नारङ्गोऽक्षे, आ. नार्यङ्गोऽपि च नारङ्गोऽक्षे । १०३-४. पु. अ. आ. निर्गुण्डी । १०३-४. पु. आ. संदुवारवत, अ. सुंदुवारवत् । १०४-३. पु. आ. धत्तूर इव धत्तूरो, अ. धत्तूर इव वत्तूरो । १०५-१. पु. अ. ह्रीवेरं । १०५-२. आ. पर्यायः । १०५-४. पु. सरोजनि, अ. कुमदिनी । १०६-३. आ. शेफालं च । १०७-३. कणि कनि । १०७-४. पु. धीन्ये । अ. ध्यान्ये १०८-१. अ. हालाहलं हालहलं। १०८-३. अ. क्रमिरपि । १०८-३.४. गण्डपदः । १०८-४. पु. आ. किञ्चलकोऽपि, अ. किञ्चुलकोऽपि ।

१०९-१. पु. आ. शाम्बूका अपि शम्बूका, अ. शम्बुका अपि शम्बूका। १०९-२. पु. वृश्चिको। १०९-४. पु. करः करी। ११०-१.२. पु. अ. आ. ष्याडोऽप्यौपवाह्योप्युपवाह्ये। ११०-३. पु. अ. आ. शृङ्खले। ११०-३. पु. निगलेन्दूश्च, अ. निगलोंडूश्च। ११०-४. पु. आ. कक्ष्या काक्ष्यापि, अ. कक्ष्या कक्ष्यापि।

१११-१. पु. वाल्हीकोपि वल्गा वा, अ. वाल्हीकोपि वल्गवागे, आ. वाल्हीकोपि वल्गावागः। १११-३. पु. आ. मयापुष्टे, अ. मार्योपुष्टे ११२-२ पु. अ. आ. ककुदमि०। ११३-३. अ. सैरमा। ११६-२. पु. शेषे। ११६-४. अ. निलयत्यपि। ११७-१ पु. आ. विहङ्गे। ११८-१. अ. वायते। ११८-१. पु. विलपुष्टोपि। ११८-३. पु. अ. क्रोञ्च्यां। ११८-४. पु. आ. किकी, अ. किकीः। ११९-१ किकिदीवरपि। ११९-३. अ. आ. कलिविङ्कं। ११९-३. पु. अ. आ. कुलिङ्गोपि। १२०-१ आ. दस्त्यूहो. पु. दास्त्यूहो। १२०-२. अ. बकेरू।

१२१-१. अ. वाशवतोपि। १२१-२. पु. आ. मच्छयो, अ. मत्स्यो। १२१-२. पु. तंपुणे। १२१-३. पु. वरुणपाशेपि। १२१-४. अ. नक्रः शङ्कमुखोपि। १२२-२. अ. शिलोञ्छतः, आ. शलोञ्छितः। १२४-४. अ. मनोनेन्द्रियम०। १२४. आ. प्रतौ १२४ पद्यांको नोपलभ्यते। १२५-१. पु. धर्म्मं। १२५-२. पु. अ. आ. वाधा। १२६-१. पु. अ. सुसीमस्तु। १२६-२. पु. आ. करटः। १२६-२. पु. अ. आ. कक्खटोपि। १२६-३. पु. आ. ऽम्लेऽम्नो, अ. ऽम्लेऽम्लो। १२६-४. पु. रव इति। १२७-४. आ. कनीयसम्। १२९-१ आ. कल्मं च। १२९-२. अ. याव्यंरेफसी। १३०-१. अ. नोदीय।

१३२-१. अ. झषोप्यथ। १३२.१. अ.छिन्ने। १३२-२. पु. अ. आ. छादितं। १३३-१. आ. बुद्धेर०, । अ. बुधैरवगमना०। १३३-३. पु. प्रेंखो०। १३४-१.२. पु. आ. भिच्चोदितमपि च तथाङ्गीकृते। १३५-३. पु. अटाटचाटचा, आ. अटाटचटचा। १३६-३. पु. जातो। १३७-२. अ. समर्प्पे। १३७-४. संदं सनशनात्। १३८-२. अ. कीतौ। १३८-४. अ. काण्ड। १३९-१. पु. त्रिवस्विषुमिते। अ. त्रिवस्विन्दुमिते. आ. त्रिवस्विषुतिमे। १३९-२. पु. राधा-घेपक्षतो। १३९-३. ४. पु. अ. आ. श्रीमज्जिनदेवमुनीश्वरः।

प्रान्तपुष्पिका—पु. इति हैमनाममालायाः शिलोञ्छः समाप्तः। अ. इति हैम-नाममालायाः शिलोञ्छः समर्थितः। आ. इति हैमनाममालायाः शिलोञ्छः। कृता श्रीजिनदेवसूरिभिरियं नाममाला। श्री।

LALBHAI DALPATBHAI BHARATIYA SANSKRITI VIDYA MANDIR

L.D. SERIES

S. NO.	Name of Publications	Price Rs.
*1.	Śivāditya's Saptapadārthī, with a Commentary by Jinavardhana Sūri. Editor : Dr. J.S. Jetly. (Publication year 1963)	4/-
2.	Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts : Munirāja Shri Puṇyavijayaji's Collection. Pt. I. Compiler : Munirāja Shri Puṇyavijayaji. Editor : Pt. Ambalal P. Shah. (1963)	50/-
3.	Vinayacandra's Kāvyaśikṣā. Editor : Dr. H.G. Shastri (1964)	10/-
4.	Haribhadrasūri's Yogaśataka, with auto-commentary, along with his Brahmasiddhāntasamuccaya. Editor : Munirāja Shri Puṇyavijayaji. (1965)	5/-
5.	Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts, Munirāja Shri Puṇyavijayaji's Collection, pt. II. Compiler : Munirāja Shri Puṇyavijayaji. Editor : Pt. A.P. Shah. (1965)	40/-
6.	Ratnaprabhasūri's Ratnākarāvatārikā, part I. Editor : Pt. Dalsukh Malvania. (1965)	8/-
*7.	Jayadeva's Gītagovinda, with king Mānāṅka's Commentary Editor : Dr. V. M. Kulkarni. (1965)	8/-
8.	Kavi Lāvaṇyasamaya's Nemiraṅgaratnākarachanda. Editor : Dr. S. Jesalpura. (1965)	6/-
9.	The Nāṭyadarpaṇa of Rāmcandra and Guṇacandra : A Critical study : By Dr. K.H. Trivedi. (1966)	30/-
*10.	Ācārya Jinabhadra's Viśeṣāvaśyakabhāṣya, with Auto-commentary, pt. I. Editor : Dalsukh Malvania. (1966)	15/-
11.	Akalaṅka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy : A study by Dr. Nagin J. Shah. (1966)	30/-
12.	Jinamāṇikyagaṇi's Ratnākarāvatārikādyaślokaśatārthī, Editor : Pt. Bechardas J. Doshi. (1967)	8/-
13.	Ācārya Malayagiri's Śabdānuśāsana. Editor : Pt. Bechardas J. Doshi (1967)	30/-
14.	Ācārya Jinabhadra's Viśeṣāvaśyakabhāṣya, with Auto-commentary. Pt. II. Editor Pt. Dalsukh Malvania. (1968)	20/-
15.	Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts : Munirāja Shri Puṇyavijayaji's Collection. Pt. III. Compiler : Munirāja Shri Puṇyavijayaji. Editor : Pt. A.P. Shah. (1968)	30/-

* out of print.

16.	Ratnaprabhasūri's Ratnākarāvatārikā, pt. II. Editor : Pt. Dalsukh Malvania. (1968)	10/-
17.	Kalpalatāviveka (by an anonymous writer). Editor : Dr. Murari Lal Nagar and Pt. Harishankar Shastry. (1968)	32/-
18.	Āc. Hemacandra's Nighaṇṭuśeṣa, with a commentary of Śrīvallabhagaṇi. Editor : Munirāja Shri Punyavijayji. (1968)	30/-
19.	The Yogabindu of Ācārya Haribhadrasūri with an English Translation, Notes and Introduction by Dr. K.K. Dixit. (1968)	10/-
20.	Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts : Shri Āc. Devasūri's Collection and Āc. Kṣāntisūri's Collection : Part IV. Compiler : Munirāja Shri Punyavijayji, Editor : Pt. A.P. Shah. (1968)	40/-
21.	Ācārya Jinabhadra's Viśeṣāvaśyakabhāṣya, with Commentary, pt. III. Editor : Pt.Dalsukh Malvania and Pt. Bechardas Doshi (1968)	21/-
22.	The Śāstravārtāsamuccaya of Ācārya Haribhadrasūri with Hindi Translation, Notes and Introduction by Dr. K.K. Dixit. (1969)	20/-
23.	Pallipāla Dhanapāla's Tilakmañjarīsāra Editor : Prof. N. M. Kansara. (1969)	12/-
24.	Ratnaprabhasūri's Ratnākarāvatārikā pt. III, Editor : Pt. Dalsukh Malvania. (1969)	8/-
25.	Āc. Haribhadra's Nemināhacariu Pt. 1 : Editors M. C. Modi and Dr. H. C. Bhayani. (1970)	40/-
26.	A Critical Study of Mahāpurāṇa of Puṣpadanta, (A Critical Study of the Deśya and Rare words from Puṣpadanta's Mahāpurāṇa and His other Apabhraṁśa works). By Dr. Smt. Ratna Shriyan. (1970)	30/-
27.	Haribhadra's Yogadṛṣṭisamuccaya with English translation, Notes, Introduction by Dr. K. K. Dixit. (1970)	8/-
28.	Dictionary of Prakrit Proper Names, Part I by Dr. M. L. Mehta and Dr. K. R. Chandra, (1970)	32/-
29.	Pramāṇavārtikabhāṣya Kārikārdhapādasūci. Compiled by Pt. Rupendrakumar. (1970)	8/-
30.	Prakrit Jaina Kathā Sāhitya by Dr. J.C. Jaina, (1971)	10/-
31.	Jaina Ontology, By Dr. K. K. Dixit (1971)	30/-
32.	The Philosophy of Sri Svaminarayan by Dr. J. A. Yajnik.	30/-
33.	Āc. Haribhadra's Nemināhacariu Pt. II : Editors Shri M. C. Modi and Dr. H. C. Bhayani.	40/-
34.	Up. Harṣavardhana's Adhyātmabindu : Editor Muni Shri Mitranandavijayaji and Dr. Nagin J. Shah.	6/-
35.	Cakradhara's Nyāyamañjarīgranthibhaṅga : Editor Dr. Nagin J. Shah.	36/-

36. Catalogue of Mss. Jesalmer collection : Compiler : Munirāja Shri Punyavijayaji. 0/4-
37. Prakrit Proper Names Pt. II. by Dr. M. L. Mehta and Dr. K. R. Chandra. 35/-
38. Karma and Rebirth by Dr. T. G. Kalghatagi. 6/-
39. Jinabhadrasūri's Madanarekhā Ākhyāyikā : Editor Pt. Bechardasj Doshi.
40. Prācına Gurjara Kāvya Sañcaya : Editor : Dr. H. C. Bhayani and Shri Agarchand Nahata.
41. Jaina Philosophical Tracts : Editor Dr. Nagin J. Shah. 16/-
42 Saṇatukumāracariya Editors Prof. H. C. Bhayani and Prof. Modi 8/-
43. The Jaina Concept of Omniscience by Dr. Ram Jee Singh 30/-
44. Pt. Sukhalalji's Commentary on the Tallvārthasutra Translated into English by Dr. K. K. Dixit. 30/-